Chapter-6

षष्ठ अध्याय

पश्चिम बंगाल तथा वर्तमान बांग्लादेश में भारतीय शास्त्रीय वाद्य-संगीत तथा व्हायोलिन के प्रयोग का अवलोकन ।

भूमिका

ब्रिटिश शासन काल में उत्तर भारतीय संगीत में व्हायोलिन नामक विदेशी वाद्य की उपस्थिति के पश्चात् भारत के अन्य प्रदेशों के समान बंगाल प्रदेश में भी इस वाद्य का सफल प्रयोग दृष्टिगोचर होता है । उस काल में व्हायोलिन तथा अन्य युरोपीय वाद्य जैसे - पियानो, गिटार, क्लैरोनेट आदि वाद्य भी बंगाल में लाए गए, परन्तु भारतीय शास्त्रीय वाद्यों के साथ व्हायोलिन ने ही सर्वमान्यता प्राप्त की है । क्योंकि व्हायोलिन की आवाज़ की मधुरता, एकल वादन की योग्यता तथा वरिष्ठ सहयोगी वादन शक्ति आदि विशेषताओं के कारण बंगाल के कलाकारों ने इस वाद्य को ह्रदय से अपना लिया है । न केवल शास्त्रीय संगीत में बल्कि संगीत के अन्य क्षेत्र में भी आज इस वाद्य का सफल प्रयोग देखने को मिलता है ।

व्हायोलिन वादन के शास्त्रीय पक्ष पर पं. वी. जी. जोग साहब ने अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है कि, "मैं आत्मविश्वास के साथ कह सकता हूँ कि सितार-सरोद में जितना अच्छा आलाप-जोड़-झाला बज सकता है, उतना ही अच्छा व्हायोलिन पर भी बज सकता है । मुझे खुशी है कि व्हायोलिन आज सितार-सरोद वाद्यों के समान ही संगीत सम्मेलनों में दो-तीन घण्टे बजाया जाता है"।[1] उल्लेखनीय है कि पं. वी. जी. जोग साहब एवं उस्ताद अली अकबर खाँ की शिष्या प्रो. शिशिरकणा धर चौधुरी व्हायोला और व्हायोलिन पर सितार-सरोद के स्तर का ही आलाप-जोड़-झाला प्रस्तुत करती हैं ।

बंगाल में शास्त्रीय एकल वादन तथा संगत के अतिरिक्त आधुनिक एवं फिल्म-संगीत के वाद्यवृन्द, कीर्त्तन संगीत के वाद्यवृन्द, नाटक के पार्श्व-संगीत तथा लोक-संगीत के विभिन्न प्रकारों के साथ सहयोगी वाद्य के रूप में व्हायोलिन का काफी प्रयोग देखने को मिलता है । "पश्चिम बंगाल तथा वर्तमान बांग्लादेश में भारतीय शास्त्रीय वाद्य-संगीत तथा व्हायोलिन के प्रयोग का अवलोकन" इस विषय पर विचार-विमर्श करने के पहले बंगाल प्रदेश के विभाजन के सम्बन्ध में संक्षिप्त जानकारी की आवश्यकता है ।

ब्रिटिश शासन काल तक बंगाल प्रदेश दो भागों में विभक्त नहीं था, परन्तु सन् 1947 में भारत की स्वाधीनता प्राप्ति तथा विभाजन के समय पश्चिम बंगाल एवं पूर्व बंगाल क्रम से भारत एवं पाकिस्तान के दो अंग में विभक्त हो गया । तत्पश्चात् सन् 1971 में पूर्व बंगाल की

बंगाली जाति ने अपनी भाषा की रक्षा तथा स्वाधीनता प्राप्ति के लिए पाकिस्तान के साथ लड़ाई करके इसी सन् 1971 के 16 दिसम्बर को पूर्व बंगाल को स्वाधीन किया । फलतः 'बांग्लादेश' नामक एक नए स्वाधीन राष्ट्र का जन्म हुआ । अतः बंगाल में भारतीय शास्त्रीय वाद्य-संगीत के साथ व्हायोलिन के प्रयोग का अवलोकन दोनों बंगाल में ही आवश्यक हो जाता है, क्योंकि उत्तर भारतीय संगीत में व्हायोलिन की उपस्थिति के बाद (ब्रिटिश काल में) पूरे बंगाल प्रदेश में ही इस वाद्य का प्रयोग आरम्भ हुआ था । चाहे यह प्रयोग संगीत के किसी भी क्षेत्र में हो ।

भारतीय शास्त्रीय संगीत में विशेषतया वाद्य-संगीत में बंगाल का लम्बा इतिहास व परम्परा है। यह परम्परा प्राचीन काल से ही चलती आ रही है । बंगाल में संगीत साधना का प्राचीन स्थान विष्णुपुर है । विष्णुपुर में इस साधना ने कण्ठ-संगीत एवं वाद्य-संगीत दोनों क्षेत्र में प्रसिद्धि प्राप्त की थी । बंगाल प्रदेश का यह विष्णुपुर राज्य युगों से अपनी सांगीतिक स्वाधीनता को पकड़कर चल रहा है ।

विष्णुपुर के अतिरिक्त बंगाल के कोलकाता तथा अन्य सभी इलाकों के राजा महाराजा एवं जमिन्दारों की सहायता से भी शास्त्रीय संगीत का काफी प्रचार-प्रसार हुआ । उस समय भारत के विभिन्न प्रदेशों से अनेक प्रसिद्ध हिन्दू और मुसलमान संगीत गुणियों का आगमन हुआ। उन राजा महाराजा एवं संगीत गुणियों ने ध्रुपद-धमार-ख्याल तथा गायन-वादन आदि सभी क्षेत्रों के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया । विभिन्न स्थानों के संगीतज्ञों की शैलियाँ पृथक होने के कारण उस समय बंगाल में अनेक नयी-नयी परम्पराओं का भी प्रचलन हुआ । गायन-वादन की यह परम्परा जो उनके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा आज तक प्रचलित है ।

उत्तर भारतीय संगीत में व्हायोलिन के उपस्थिति के समय बंगाल में भारतीय शास्त्रीय तार वाद्यों मे मुख्य रूप से सितार, सरोद, इसराज, सारंगी आदि वाद्यों का अधिक प्रयोग था। जो प्रयोग आज भी सफल रूप से होता है । इसके अतिरिक्त वीणा, रबाब, सुरबहार, सुरसिंगार, दिलरूबा आदि वाद्य भी प्रयोग में थे, परन्तु समय के साथ इन वाद्यों का प्रयोग धीरे-धीरे कम होता गया । वर्तमान में इन वाद्यों का प्रयोग नहीं के बराबर है । लोक-वाद्य में सारिन्दा, दोतारा, चन्द्रसारंग, एकतारा, आनन्द लहरी आदि तार वाद्यों का प्रयोग लोक-संगीत

के साथ सहयोगी वाद्य के रूप में किया जाता था । इन वाद्यों का प्रयोग व्हायोलिन के प्रवेश के पहले से लेकर आज तक बरकरार है। इनमें चन्द्रसारंग वाद्य वर्तमान में अप्रचलित है। अध्याय के विषयानुसार यहाँ बंगाल प्रदेश में उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत में उपयोगी तार वाद्यों तथा व्हायोलिन के प्रयोगात्मक विषय में विचार-विमर्श किया गया है । साथ ही साथ उन वाद्यों के उत्पत्ति विषयक संक्षिप्त ऐतिहासिक विवरणों को भी इस विचार-विमर्श के अन्तर्गत लिया गया है ।

बंगाल में सितार, सरोद, सारंगी, इसराज, दिलरूबा आदि शास्त्रीय वाद्यों का प्रयोग उत्तर भारतीय संगीत में व्हायोलिन प्रवेश के पहले से लेकर वर्तमान तक देखने को मिलता है। इनमें मिज़राब तथा प्रहार से बजाये जानेवाले वाद्यों सितार और सरोद का प्रभाव पहले से ही अधिक रहा है । शास्त्रीय वादन-क्षेत्र में यह दो वाद्यों के प्रतिष्ठित कलाकार बंगाल में काफी हैं । 20वीं सदी के उत्तरार्ध तक सितार-सरोद के साथ प्रहारवाले वाद्य सुरबहार और सुरसिंगार का भी प्रचलन था । गज़ से बजाये जानेवाले वाद्यों में इसराज, दिलरूबा और सारंगी में इसराज वाद्य के साथ बंगाल के संगीत-जगत का गहरा सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। दिलरूबा और सारंगी का भी प्रयोग देखा जाता है, परन्तु इसराज की तुलना में यह दो वाद्य कम प्रयोग में है । इसराज के तीन-चार प्रकारों का ऐतिहासिक विवरण भी मिलता है, जो वर्तमान में अप्रचलित है जैसे - मीन सारंगी, कोयल, मन्द्रबहार, तारशहनाई आदि । इन वाद्यों की उत्पत्ति बंगाल में हुई थी । भारतीय शास्त्रीय वृन्दवादन में प्रयोग करने के लिए इन वाद्यों का निर्माण किया गया था । 20वीं सदीं के उत्तरार्ध तक मन्द्रबहार और तारशहनाई का उपयोग बंगाल में शास्त्रीय वृन्दवादन में किया जाता था, परन्तु वर्तमान में इसका उपयोग नहीं है ।

1. प्रहार वाद्यों की उत्पत्ति तथा बंगाल में उनका प्रयोग

सितार और सुरबहार

सितार : प्रहार वाद्यों में 'सितार' के सम्बन्ध में कहा जाए तो आधुनिक काल में यह वाद्य अपनी मधुरता के कारण संगीतज्ञों के अतिरिक्त जन-मानस में भी लोकप्रिय हो गया है । विकसित वादन शैली के कारण इसने भारत ही नहीं बल्कि पूरे विश्व में अपना स्थान बना

लिया है । इस मधुर लोकप्रिय वाद्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में सदैव मतभेद रहा है। सितार की उत्पत्ति कब, कहाँ और कैसे हुई यह वर्षों से संगीत-जगत में अन्वेषण का विषय रहा है ।

श्री उमेश जोशी के अनुसार, "सितार की उत्पत्ति समुद्र गुप्त के काल में हुई है"।[2] वर्तमान काल के विद्वान श्री स्वामी प्रज्ञानानन्द के अनुसार, "आधुनिक सात तारवाली सितार प्राचीन चित्रवीणा का परिवर्तित रूप है"।[3] "परिवादिनी सप्त तन्त्रीयुक्त वीणा से सितार की उत्पत्ति पं. जगदीश नारायण पाठक मानते हैं एवं श्री एस. एम. ठाकुर का कहना है कि, सितार का प्राचीन संस्कृत नाम त्रितन्त्री है । तीन तार से युक्त यन्त्र को संस्कृत भाषा में त्रितन्त्री कहते हैं । संस्कृत के ग्रन्थकारों ने वीणा के बहुत से नाम दर्शाये हैं, उनमें त्रितन्त्री भी एक वीणा है । इस आधार पर सितार का नाम त्रितन्त्री वीणा है"। [4] डॉ. लालमणि मिश्र के अनुसार, "शारंगदेव के समय तक जो वीणा त्रितन्त्री के नाम से प्रचलित थी, उसी ने आगे चलकर तम्बूरा और सितार का नाम तथा रूप ग्रहण कर लिया"।[5] परन्तु "त्रितन्त्री वीणा का सितार के साथ कोई सीधा सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता । दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि त्रितन्त्री में पर्दे नहीं होते थे । अत: यही मानना उचित प्रतीत होता है कि त्रितन्त्री से सितार की उत्पत्ति नहीं हुई है"।[6] परन्तु डॉ. अंजना भार्गव ने भारतीय वाद्यों का अध्ययन कर यह विचार व्यक्त किए हैं कि, "त्रितन्त्रीका से सितार वाद्य का विकास मानना उपयुक्त प्रतीत होता है । कल्लिनाथ ने त्रितन्त्री का लोक में प्रचलित नाम जन्त्र बताया है । और आइन-ए अकबरी में वर्णित 'जन्त्र' तथा राजस्थान का पर्दे तथा तन्त्रीयुक्त लोकवाद्य 'जन्त्र' सितार के विकास की प्रक्रिया को पुष्ट करते हैं"।[7]

"कुछ विद्वान सितार को विदेशी वाद्य मानते हैं । वह कहते हैं कि पर्शियन भाषा में 'सेह' का अर्थ तीन होता है, इस प्रकार 'सेह-तार' अर्थात् तीन तारवाला वाद्य । इनके मतानुसार पूर्व में सितार में तीन तार होते थे । इसलिए सितार एक विदेशी वाद्य है, कूर्टसेक के अनुसार पर्शियन लोग वाद्य को 'तार' इस नाम से सम्बोधित करते हैं । इसके साथ वे वाद्य में प्रयोग किए गए तारों की संख्या को जोड़ देते हैं, जैसे - दुतार में दो तार, सितार में तीन तार, करतार में चार तार, इस प्रकार वहाँ एकतार, दुतार, सितार, करतार आदि प्रचलित थे"।[8]

प्राचीन काल में भारत के साथ एशिया के विभिन्न देशों का गहरा व्यापारिक सम्बन्ध था । उस समय अन्य सभी चीजों के समान संगीत वाद्यों का भी व्यापार हुआ करता था । श्री एस. एम. ठाकुर का कहना है कि, "प्राचीन काल में जब भारत के साथ फ़ारस का व्यापार चलता था उस समय फ़ारसी लोगों ने भारत से कच्छपी वीणा को अपने देश ले जाकर उसे सितार नाम प्रदान किया । बाद में वही वाद्य फ़ारस से अरब जाकर थोड़े परिवर्तन के साथ 'गिटार' सिरिया में 'सौर' प्राचीन ग्रीस में 'सितार' एवं अन्य देशों में विभिन्न नामों से प्रचलित हुआ" ।[9]

"सितार के सम्बन्ध में शाहब सरमदी की धारणा यह है कि पर्शियन साहित्य में 'सितार' 'सिता' और 'सिते' के रूप में पाया जाता है । फ़ारसी भाषा में 'ता' और 'ते' का अर्थ ताँत है जो कि बाद में तार के लिए प्रयुक्त होने लगा । इसकी आकृति के सम्बन्ध में उन्होंने बताया है कि वह गायन वाद्य के रूप में प्रयुक्त होता रहा है" ।[10]

"मुंशी मोहम्मद करम इमाम ने अपनी पुस्तक "मआदनुल मौसीकी" (1854, पृ. 58) में लिखा है कि सितार वाद्य हज़रत अमीर खुसरो (13वीं शताब्दी) का आविष्कार है । इनकी इस बात का समर्थन अथवा अनुसरण बाद के अनेक लेखकों ने किया । प्रख्यात सितार वादक उस्ताद विलायत खाँ एवं उस्ताद अब्दुल हलीम जाफ़र खाँ तथा अन्य अनेक सितार वादकों ने भी सितार के आविष्कार का श्रेय अमीर खुसरो को ही दिया है । उनका कहना है अमीर खुसरो के जरिये सितार कव्वाली के साथ संगति करने के लिए बनाया गया था, परन्तु अमीर खुसरो के अपने साहित्य तथा तत्कालीन संगीत ग्रन्थों में कई वाद्यों का उल्लेख है किन्तु सितार का नहीं । उस काल के प्रसिद्ध इतिहासकार बर्नी के सांगीतिक विवरणों में भी इस वाद्य का उल्लेख नहीं है" ।[11]

"उस समय के कवि अपने कारनामों का ज़िक्र अपने शैरों में अक्सर करते थे । इस बात में हज़रत अमीर खुसरो किसी से पीछे न थे । सितार के बारे में उनकी खामोशी इस बात का सबूत है कि सितार के ईजाद (आविष्कार) से उनका कोई वास्ता न था । खुद हज़रत अमीर खुसरो ने, न उनके किसी समवर्ती ने और न ही अबुल फ़जल ने सितार की ईजाद को उनसे सम्बन्धित किया है । सितार अमीर खुसरो से कहीं पहले ईजाद हो चुका था और

उनके ज़माने से अहदे-अकबरी तक हमें हिन्दुस्तान में इसका कोई सुराग़ नहीं मिलता"।[12] आचार्य बृहस्पति के तथ्य के आधार पर अमीर खुसरो से कहीं पहले ज़माने में ईजाद हुआ सितार विदेशी है यह तो स्पष्ट हो जाता है, परन्तु इसका नाम और आकार अवश्य पृथक रहा होगा।

"अमीर खुसरो के काल के पश्चात् मुगलकालीन प्रामाणिक ग्रन्थों आइन-ए-अकबरी, रागदर्पण, किताबे नौरस, कृष्ण भक्तिकालीन कवियों के काव्य, एवं संगीत रत्नाकर से लेकर चतुर्दण्डी प्रकाशिका तक के संस्कृत साहित्य में सितार का उल्लेख नहीं मिलता"।[13] अतः 17वीं शताब्दी तक के मुगलकालीन साहित्य में, कृष्ण भक्तिकालीन साहित्य में तथा मध्यकालीन संस्कृत ग्रन्थों में सितार का उल्लेख नहीं है । यह उल्लेख 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सर्वप्रथम पाया जाता है ।

लेखक पी. चैतन्यदेव का कहना है, "अभी हाल के वर्षों तक यह विश्वास था कि इस वाद्य के आविष्कारक 13वीं शताब्दी के कवि-संगीतकार अमीर खुसरो थे । यह पुष्टि करने योग्य तथ्य से अधिक लोक विश्वास प्रतीत होता है क्योंकि ज्ञात विश्वसनीय पुस्तकीय प्रमाण 18वीं शताब्दी से अधिक प्राचीन नहीं है । 18वीं शताब्दी के एक लेखक का इतना कहना पर्याप्त है कि निबद्ध तम्बूरा ही सितार के नाम से मशहूर हुआ है"।[14] कुछ विद्वानों का मत है कि प्रचलित सितार का आविष्कार खुसरों खाँ फ़कीर ने किया है । श्रीमती सुलोचना यजुर्वेदी और आचार्य बृहस्पति के अनुसार, "वर्तमान सितार का आविष्कार नेमत खाँ (सदारंग) के छोटे भाई खुसरो खाँ ने किया जो फिरोज खाँ (अदारंग) के पिता थे"।[15]

"श्री रमावल्लभ मिश्र के अनुसार नवाब दरगाह कुली खाँ की लिखी पोथी 'मीराते दिल्ली' में उन्होंने स्वयं लिखा है, नैमत खाँ सदारंग के भाई खुसरो खाँ ने एक तीन तारवाला नया बाजा सहतार बनाया है । जिस पर नयी-नयी राग-रागिनियाँ बड़ी कुशलता के साथ बजाता है"।[16] "श्री रमावल्लभ मिश्र का एक तर्क यह है कि खुसरो खाँ में सितार का आविष्कार करने की योग्यता थी क्योंकि खुसरो खाँ देश के श्रेष्ठतम वीणा वादकों के वंशज थे। उनके भाई सदारंग ख्याल के नाम से देश को नयी गायकी दे रहे थे, उनके चारों ओर संगीत की सरिता बह रही थी । उनका घर भारतीय संगीत का विश्वविद्यालय बना हुआ था"।[17]

उपरोक्त सन्दर्भो को पढ़ने से स्पष्ट होता है कि सितार के आविष्कारक खुसरो खाँ थे, किन्तु उल्लेखनीय बात यह है कि, "पं अहोबल के द्वारा रचित 'संगीत पारिजात' ग्रन्थ (रचनाकाल ई. सन् 1560 और 1566 के मध्य का है) में उल्लिखित निबद्ध तम्बूरा वर्तमान सितार की आकृति का ही था, जिसे राजा सवाई प्रताप सिंह देव ने लोक में सितार के नाम से प्रचलित बताया है । वैसे लोक में यह शब्द सुतार, सुहतार, सित्तार आदि रूप से होता हुआ सितार बना, यह माना जा सकता है" ।[18]

महाराज कुमार मघेन्द्र सिंह ने लिखा है कि सित्तार को अरबी भाषा में 'अल्ला' भाव 'भगवान' का नाम कहते हैं । खुसरो खाँ सुफियाना भक्ति रस के गीत इस वाद्य के साथ गाते थे। श्री रमावल्लभ मिश्र ने भी यह स्वीकार किया है कि खुसरो खाँ सरल प्रकृति तथा धार्मिक स्वभाव के व्यक्ति थे । धार्मिक प्रवृत्ति होने के कारण अपने द्वारा गाये जानेवाले गीतों में बीन से संगत करते समय बैठक में असुविधा महसूस करते थे । बीनकार होने के कारण लोक में पूर्व प्रचलित सितार अपनाने में उन्हें किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हुई होगी । घरानेदार कलाकार होने के कारण बहुत कम समय में ही उस वाद्य के वादन में उन्होंने दक्षता प्राप्त कर ली होगी । उनके लिए ऐसा करना कठिन नहीं था । अत: एक घरानेदार कलाकार द्वारा अपनाये जाने के कारण सितार का प्रचार-प्रसार होना प्रारम्भ हुआ होगा । इसलिए खुसरो खाँ को सितार के आविष्कारक नहीं प्रचारक कहना अधिक न्यायोचित होगा । क्योंकि पं. अहोबल द्वारा बताया गया (सन् 1560-1566 के मध्य में) निबद्ध तम्बूरा को वर्तमान सितार का पूर्व रूप कहा जाता है, जो सितार की आकृति का ही था । अत: "मोहम्मद शाह रंगीले (ई. सन् 1719-1748) के समय के खुसरो खाँ द्वारा सितार का आविष्कार" इस तथ्य के सम्मुख अनेक प्रश्न उभरते हैं ।

तम्बूरे से ही सितार की उत्पत्ति हुई इस तथ्य पर खोज करने से जानकारी यह प्राप्त होती है कि तम्बूरे का प्रचलन कैकुबाद के राज्यकाल में सर्वप्रथम दिखता है । अरबी विद्वान अब्दुल रज़ाक के अनुसार भारतीय 'तुम्बा' का रूपान्तर ईरान में 'तम्बूर' तथा अरब में 'तन-बुर' होगा। "कैकुबाद के युग (ई. सन् 1286-1290) की यात्रा में प्रत्येक पड़ाव में संगीत गोष्ठियाँ होती थीं तथा चंग, रबाब, कमांच, मिस्कल (तन्त्री वाद्य विशेष) बांसुरी और तम्बूरों की आवाज़ों से शिविर गूंजता रहता था"।[19] उसके बाद "मुहम्मद तुगलक

(राज्यकाल 1325-1351), सिकन्दर लोदी (राज्यकाल 1488-1517) तथा मुगल सम्राट अकबर (राज्यकाल 1556-1605) से लेकर मुहम्मद शाह रंगीले के समय (राज्यकाल 1719 - 1748) तक के ऐतिहासिक ग्रन्थों में तम्बूरा वाद्य तथा वादकों का उल्लेख मिलता है" ।[20]

अत: ऐतिहासिक तथ्य के आधार पर यह ज्ञान होता है कि कैकुबाद के समय से मुहम्मद शाह रंगीले तक तम्बूरा वादकों का महत्त्वपूर्ण स्थान था । तम्बूरा वाद्य आधुनिक तानपूरे के समान होता तो उन वादकों को कोई विशेष स्थान मिलना असम्भव था । इसलिए इस वाद्य पर एकल वादन तथा संगत की जाती रही होगी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है । आचार्य बृहस्पति जी ने तम्बूरा वादकों के वर्णन में लिखा है कि, "स्वर देने के लिए आज जिस 'तम्बूरा' या 'तानपूरे' का प्रयोग होता है, वह सर्वथा पृथक है" ।[21] "पं. अहोबल ने संगीत पारिजात में तौम्बूर के दो प्रकार निबद्ध और अनिबद्ध बताये हैं । निबद्ध वह है जिसके दण्ड पर ताँत से पर्दे बन्धे रहते है, अनिबद्ध में इस प्रकार की व्यवस्था नहीं रहती" ।[22]

"महाराज सवाई प्रताप सिंह देव ने 'राधागोविन्द संगीतसार' में अहोबल के समान ही तम्बूरे के दो प्रकार - 'निबद्ध' और 'अनिबद्ध' का वर्णन करते हुए लिखा है कि इसका लौकिक नाम सितार है" ।[23]

संगीत पारिजात (ई. सन् 1560) के सन्दर्भ से स्पष्ट है कि तौम्बूर के दो प्रकार निबद्ध और अनिबद्ध प्रचलित थे तथा राधागोविन्द संगीतसार (ई. सन् 1779-1804) के वर्णन से स्पष्ट है कि निबद्ध को लोक में सितार कहते थे । उनके अनुसार गायन में स्वर की सहायता करे उसे अनिबद्ध तम्बूरा समझना चाहिए । यहाँ निबद्ध से तात्पर्य पर्दों के बन्धन से है । 18वीं शताब्दी में रचित 'मीराते दिल्ली' और 'नादिराति शाही' ग्रन्थों में भी सितार की चर्चा मिलती है । आचार्य बृहस्पति के अनुसार "मुहम्मदशाह रंगीले की मृत्यु (1748 ई.) के उनचास वर्ष पश्चात् संगृहीत ग्रन्थ 'नादिराति शाही' में सितार की चर्चा मिलती है" ।[24]

सितार का आविष्कारक कौन है ? यह कहना सम्भव नहीं है, किन्तु पुष्ट प्रमाणों के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि 17वीं शताब्दी में प्रचलित निबद्ध तम्बूरा जिसे लोक में सितार कहते थे, उस वाद्य का शास्त्रीय संगीत में पदार्पण हुआ, जो कालान्तर में एक प्रमुख वाद्य के रूप में प्रचलित हुआ । खुसरो खाँ फ़कीर जैसे घरानेदार कलाकार ने इस वाद्य

को अपनाया, जिसके कारण इसका प्रचार-प्रसार सर्वत्र प्रारम्भ हुआ । सितार नाम अत्यधिक प्रचलन में आ जाने के कारण तम्बूरा नाम अपने आप लुप्त हो गया ।

उल्लेखनीय है कि कुछ विशेषताओं के कारण डॉ. लालमणि मिश्र ने सितार को भारतीय वाद्य दर्शाया है । उन्होंने भारतीय तन्त्री वाद्यों की मुख्य तीन विशेषताएँ बताई हैं, जो इस प्रकार है:-

1. "घुड़च का चपटा होना .... घुड़च की जवारी द्वारा ध्वनि गुंजन की व्यवस्था विश्व में अन्य किन्हीं वाद्यों में नहीं पायी जाती है । यह व्यवस्था केवल मिज़राबवाले वाद्य में होती है ।
2. भारतीय वीणाओं में पर्दे लगाने की जिस प्रकार व्यवस्था होती है, वैसी व्यवस्था अन्य देशों में नहीं पायी जाती है ।
3. चिकारी का प्रयोग किन्नरी वीणा के उत्पत्ति काल से ही होने लगा था । जो बारहवीं, तेरहवीं शताब्दी तक परिपुष्ट हो गया था" ।[25]

इन विशेषताओं के अतिरिक्त एक और विशेषता देखने में आती है कि भारतीय तन्त्री वाद्यों के तुम्बे एक विशेष प्रकार का अण्डाकार आकार लिए होते थे, जो विदेशी वाद्यों में नहीं दिखाई देते। इस कसौटी पर जब सितार का परीक्षण किया जाए, तो सितार का तुम्बा भी एक विशेष आकार लिए हुए होता है । इस प्रकार सितार में पूर्ण रूप से भारतीयता के लक्षण प्रकट होते है। अतः यह आधिकारिक रूप से कहा जा सकता है कि सितार एक भारतीय वाद्य है ।

वर्तमान में भारतीय संगीत में सितार वाद्य को बहुत ही सम्मानजनक और महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है । सितार को यह महत्त्व और सम्मान बहुत पहले नहीं मिला, अब से कोई सौ वर्ष पहले इसे सम्मानजनक भी नहीं समझा जाता था । सम्मान का स्थान रूद्र वीणा को प्राप्त था । वास्तव में वीणा के पारम्परिक उस्ताद अगर कभी सीखाते भी तो इसे अपनी पकड़ से बाहर किसी व्यक्ति को कभी नहीं सीखाते थे । वीणा घराने का विशेष अधिकार थी । अगर किसी 'बाहरी' आदमी ने उनके ज्ञान के दुर्ग का द्वार कभी खटखटाया भी तो उसे सितार जैसा सामान्य वाद्य सीखा दिया करते थे । सितार और उसकी शैली को प्रोत्साहन 18वीं

शताब्दी के उत्तरार्ध में मिलने लगा । इसी समय मे मसीत खाँ, बरकतुल्ला खाँ, अमीर खाँ तथा बहादुर खाँ, गुलाम रज़ा और रहीम सेन, अमृत सेन जैसे महान उस्ताद हुए । सितार वादन के क्षेत्र में मसीत खाँ, रहीम सेन तथा अमृत सेन को 'त्रिमूर्ति' माना जाता है, इन्होंने सितार को स्वतन्त्र वाद्य के रूप में स्थान दिलाया है। ये साधारण रूप से श्रेष्ठ वादक कलाकार थे और उनके मधुर संगीत ने सितार को सम्मानजनक स्थान तक उठाया और इसे व्यापक मान्यता दिलवायी । संगीत में पसन्द बदल रही थी । मधुर वीणा और उसकी शान्त शैली अपना असर खो रही थी, ठीक वैसे ही जैसे ध्रुपद गायकी और पखावज वादन ख्याल और तबला के लिए जगह छोड़ रहे थे । एक लयात्मक शैली विकसित हो रही थी जिसने सितार वादन को प्रोत्साहित किया । अनेक सितारियों में से मसीत खाँ और गुलाम रज़ा का विशेष उल्लेख यहाँ किया जाना चाहिए, क्योंकि वे वादन की इन शैलियों के जनक थे जो आज के वादन का मुख्य आधार थीं । मसीत खाँ की रचनाएँ जो मसीतखानी बाज़ के रूप में विकसित हुयीं, जो विलम्बित लय में होती है और ताल से तकरार नहीं करतीं तथा बढ़त के लिए पर्याप्त गुंजाईश देती है । दूसरा गुलाम रज़ा के नाम पर बना रज़ाखानी बाज़ जो द्रुत और चपल है । इस प्रकार सितार की अपनी भाषा और मुहावरे के साथ मुख्य वीणा के रूप में विकसित होने के दौरान वीणा के गम्भीर आलाप का स्थान सुरबहार ने लिया जो सितार का ही एक प्रकार है ।

सुरबहार : आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है । सुरबहार का आविष्कार तत्कालीन आवश्यकता का ही परिणाम दिखाई देता है ।

उस काल सितार वादन में बान्दा के गुलाम मोहम्मद ने असाधारण ख्याति अर्जित की थी । इन्होंने बीनकार उमराव खाँ से तालीम हासिल की थी जिन्हें (उमराव खाँ को) ग्रन्थकारों ने सुरबहार के आविष्कार का श्रेय दिया है । उस समय भारतीय शास्त्रीय संगीत में मुख्य स्थान वीणा वाद्य को प्राप्त था । 'वीणा' घराने का विशेष अधिकार थी । उस्ताद अपनी परम्परा से बाहर किसी व्यक्ति को वीणा की शिक्षा कभी नहीं देते थे । कहा जाता है कि गुलाम मोहम्मद का सितार वादन किसी प्रकार बीन और रबाब से कम नहीं था । तत्कालीन उस्तादों का कथन है कि उस समय पूरे भारतवर्ष में कोई ऐसा सितारिया न था, जिससे गुलाम मोहम्मद की समता हो सके, परन्तु वे वीणा सीखने की पूर्ण अभिलाषी थे । उस्ताद ने

(उमराव खाँ ने) अपनी परम्परा के नियम को तोड़कर शिष्य को (गुलाम मोहम्मद को) बीन की तालीम नहीं दे पाए । उन्होंने गुलाम मोहम्मद को यह कहकर आश्वासन दिया कि वे उन्हें बीन की तालीम अन्य किसी वाद्य यन्त्र में देंगे । तत्पश्चात् उमराव खाँ ने लखनऊ के दक्ष कारीगरों को बुलाकर एक ऐसा वाद्य निर्मित करवाया जिस पर सम्पूर्ण रूप से बीन शैली का वादन सम्भव हो सके । उन्होंने इस नए वाद्य यन्त्र का नाम 'सुरबहार' रखा ।

"विश्व वीणा" ग्रन्थ के लेखक सुललित सिंह (भाग-1, क्रमांक-3, पृष्ठ 85), 'सितार मार्ग' के लेखक श्रीपद बन्दोपाध्याय (तृतीय भाग पृष्ठ 102), तथा 'भारतीय वाद्यांचा इतिहास' के लेखक श्री ग. ह. तारलेकर (पृष्ठ 76) आदि ने सुरबहार के आविष्कार का श्रेय उमराव खाँ को दिया है । 'हमारे संगीत रत्न' (सम्पादक – लक्ष्मीनारायण गर्ग, हाथरस) ग्रन्थ के पृष्ठ 459 पर भी उमराव खाँ को सुरबहार का निर्माता बताया गया है । लेकिन डॉ. परांजपे के मतानुसार, "उमराव खाँ के शिष्य गुलाम मोहम्मद को इसके आविष्कार का श्रेय दिया जाता है। एक अन्य मत के अनुसार प्रसिद्ध सितार वादक शहदाद खाँ ने सितार में सुधार कर इस नए वाद्य का आविष्कार किया"।[26] सितार वादक श्री अरविन्द पारिख का भी यही मत है। इस प्रकार सुरबहार वाद्य के आविष्कर्ता के सम्बन्ध में भी मतभेद दिखाई देता है। यहाँ उल्लेखनीय है कि "थोड़े समय पूर्व से प्रचलित कच्छपी वीणा (उत्तर मध्यकालीन) से यह वाद्य बहुत कुछ समानता रखता है । कहा जाता है कि कच्छपी (कछुया) का ही विकसित रूप सुरबहार है"।[27]

सुरबहार के आविष्कर्ता के नाम के सम्बन्ध में मतभेद भले ही हो, परन्तु बात निश्चित है कि बीन का आलाप, जोड़ का काम जिसे उस समय के सितार में नहीं बजाया जाता था, उसे बजाने के लिए सुरबहार की रचना की गई । इसके निर्माण से उन संगीत प्रेमियों को अत्यन्त लाभ हुआ था, जिनका सम्बन्ध किसी बीनकार घराने से नहीं था किन्तु बीन की वादन शैली सीखने की हार्दिक इच्छा थी । ऐसे कलाकारों को सुरबहार पर बीन की शिक्षा मिलने लगी । इसकी उत्कृष्ट तकनीक व मधुर नाद के कारण इसने जन-मानस में अपना स्थान बना लिया था । इसकी लोकप्रियता और सफलता से स्वयं बीनकार भी प्रभावित हुए थे, परन्तु समय के साथ-साथ सितार में सुधार होता रहा और सुरबहार का प्रयोग कम होता गया। वर्तमान में इस वाद्य के प्रसिद्ध वादक कलाकार नहीं के बराबर है ।

गुलाम मोहम्मद के पश्चात् उनके पुत्र सज्जाद मोहम्मद इसके अच्छे कलाकार रहे। प्रसिद्ध सितारनिवाज़ इमदाद खाँ के पुत्र वहीद खाँ भी इस वाद्य के श्रेष्ठ कलाकार थे। मैहर के उस्ताद अलाउद्दीन खाँ अनेक वाद्यों के साथ इस वाद्य को भी सफलता से बजाते थे । उनकी पुत्री तथा रविशंकर की धर्मपत्नी श्रीमती अन्नपूर्णा शंकर द्वारा यह परम्परा आज भी सुरक्षित है ।

बंगाल में अनेक घरानेदार सितार वादकों का योगदान पाया जाता है। 20वीं सदी के उत्तरार्ध तक बंगाल के संगीत-जगत में सितार के साथ सुरबहार वाद्य का भी काफी प्रचलन रहा । बंगाल प्रदेश का एक महत्त्वपूर्ण घराना है 'विष्णुपुर घराना'। यह बंगाल का अपना घराना है । मुख्य रूप से यह ध्रुपद का घराना है परन्तु शास्त्रीय संगीत की अन्य शैलियों को भी इस घराने के कलाकारों ने अपनाया था । "इस घराने के संस्थापक के रूप में विष्णुपुर निवासी विशिष्ट संगीत गुरू रामशंकर भट्टाचार्य को माना जाता है"।[28] "अन्य मत से बहादुर खाँ के शिष्य गदाधर चक्रबर्ती से विष्णुपुर ध्रुपद घराने का आरम्भ होता है"।[29] वाद्य-संगीत क्षेत्र में भी इस घराने के कलाकारों का महत्त्वपूर्ण योगदान प्राप्त होता है। "विष्णुपुर में सितार घराने का आरम्भ सेनी बीनकार घराने के नीलमाधव चक्रबर्ती से माना जा सकता है । कहा जाता है कि उनसे ही विष्णुपुर में सितार घराने की प्रतिष्ठा हुई"।[30] इनकी शिक्षा बीनकार घराने के प्रसिद्ध कलाकार उस्ताद सज्ज़ाद मोहम्मद एवं विष्णुपुर निवासी विशिष्ट गुणी संगीतज्ञ रामप्रसन्न बैनर्जी से हुई ।

रामप्रसन्न बैनर्जी विष्णुपुर के प्रसिद्ध संगीत-गुणी अनन्तलाल बैनर्जी के सुपुत्र थे । अनन्तलाल बैनर्जी विष्णुपुर घराने के संस्थापक रामशंकर भट्टाचार्य के अग्रगण्य शिष्यों में से एक हैं। इन्होंने मल्ल राजाओं के पतन के समय भी विष्णुपुर की संगीत चर्चा को बचाकर रखा था। कहा जाता है कि यही विष्णुपुर राज्य के अन्तिम सभागायक रहे। रामप्रसन्न बैनर्जी ने अपनी शिक्षा प्रसिद्ध सुरबहार एवं सितार वादक उस्ताद सज्ज़ाद मोहम्मद खाँ के शिष्य तथा दत्तक पुत्र मुहम्मद खाँ से प्राप्त की। मुहम्मद खाँ के अन्य शिष्यों में गोबर डंगा (बंगाल) के जमिन्दार ज्ञानदा प्रसन्न एवं रामप्रसन्न अग्रगण्य थे। विष्णुपुर के ख्याति प्राप्त संगीतज्ञ गोपेश्वर बैनर्जी (रामप्रसन्न बैनर्जी के भाई) भी इन्हीं के शिष्य रहे ।

बंगाल में वाद्य-संगीत के क्षेत्र में उस्ताद सज्ज़ाद मोहम्मद का बड़ा ही योगदान प्राप्त होता है। वे सेनी बीनकार घराने के प्रसिद्ध सुरबहार व सितार वादक गुलाम मोहम्मद के सुपुत्र थे। अपने पिता के समान ही सज्ज़ाद मोहम्मद सितार और सुरबहार वादक के रूप में पहचाने जाते थे। वे बलरामपुर के राजा दुर्ग विजय सिंह के सभावादक थे । सज्ज़ाद मोहम्मद की ख्याति सुनकर अयोध्या के नवाब वाज़िद अली शाह ने इनको ससम्मान आमन्त्रित किया था । लखनऊ दरबार के समाप्त हो जाने पर वाजिद अली शाह अंग्रेज़ों द्वारा प्रताड़ित होकर कोलकाता के मटियाब्रुज में आकर (सन् 1856-1887) स्थायी रूप से बस गए । यहाँ भी उन्हीं के दरबार में उस्ताद सज्ज़ाद मोहम्मद को संगीतज्ञ के रूप में देखा जाने लगा। वाजिद अली शाह की मृत्यु के पश्चात् महाराजा सर जतीन्द्रमोहन ठाकुर (कोलकाता के पाथुरियाघाटा के महाराजा) ने सज्ज़ाद मोहम्मद को अपने दरबार में पूर्ण मर्यादा के साथ ग्रहण किया । उस्ताद सज्ज़ाद मोहम्मद ने शिष्य मुहम्मद खाँ को तालीम दी, जिन्हें बाद में दत्तक पुत्र के रूप में ग्रहण किया । इनके अन्य शिष्यों में सर सौरीन्द्रमोहन ठाकुर, बामाचरण शिरोमणि (भट्टाचार्य) तथा विष्णुपुर निवासी श्री नीलमाधव चक्रबर्ती (विष्णुपुर सितार घराने का संस्थापक) विशेष उल्लेखनीय है ।

अतः हम देखते है कि 19वीं सदी में बंगाल के अन्यतम सांगीतिक स्थान विष्णुपुर तथा अन्य स्थानों के सांगीतिक उन्नति में सेनी बीनकार घराने के मशहूर दो कलाकार उस्ताद सज्जाद मोहम्मद एवं इन्हीं के शिष्य तथा दत्तक पुत्र मुहम्मद खाँ जैसे सितार और सुरबहार वादकों का योगदान भी कम नहीं है । इससे प्रतीत होता है कि उस काल बंगाल में सितार के साथ सुरबहार वाद्य का भी काफी प्रचलन था ।

विष्णुपुर सितार घराने के सर्वोच्च एवं प्रतिनिधि कलाकारों के रूप में श्री सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी (सितार व सुरबहार वादक), श्री सत्यकिंकर बैनर्जी तथा श्री गोकुल नाग के नाम प्रमुख रूप से लिए जा सकते है । वर्तमान समय में श्री गोकुल नाग के सुपुत्र श्री मनिलाल नाग इस घराने के प्रसिद्ध वादक है, परन्तु इनके वादन में अन्य घराने की विशेषताएँ भी रहती है ।

भारतीय संगीत के एक महात्मा पुरूष है संगीत गुरू उस्ताद अलाउद्दीन खाँ । इनकी परम्परा 'उस्ताद अलाउद्दीन खाँ परम्परा' तथा 'मैहर घराना' के नाम से प्रसिद्ध है । बंगाल प्रदेश के साथ इनका बहुत ही गहरा सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है । उस्ताद अलाउद्दीन खाँ का

जन्म 8 अक्तूबर सन् 1862 तथा दूसरे मत के अनुसार 1881 को त्रिपुरा राज्य के ब्राह्मणबाड़िया जिले (वर्तमान बांग्लादेश) के शिवपुर गाँव में हुआ । काफी खोज-बीन करने के बाद बिमलाकान्त राय चौधुरी ने यह प्रमाणित किया है कि इनका जन्म सन् 1881 में हुआ । इनकी संगीत-शिक्षा बंगाल के गोपालचन्द्र चक्रबर्ती उर्फ नुलो गोपाल, हाबूदत्त (स्वामी विवेकानन्द के भाई), अहमद अली खाँ एवं रामपुर के वज़ीर खाँ से हुई । यह सत्य है कि उस्ताद अलाउद्दीन खाँ विधिवत् उस्ताद वज़ीर खाँ के शिष्य हुए थे, परन्तु सीखने का अवसर उन्हें अन्य गुणियों से भी मिला । कोलकाता में इडन गार्डन के बैण्ड मास्टर लाबो साहब के पास उस्ताद अलाउद्दीन खाँ ने व्हायोलिन वादन की शिक्षा और पश्चिमी संगीत सीखा था । संगीत सीखने के उद्देश्य से उन्होंने भारत के विभिन्न स्थानों पर भ्रमण किया एवं अनेक संगीत गुणियों का सान्निध्य प्राप्त किया । अन्त में वह मध्यप्रदेश के मैहर राज्य में जाकर बस गए थे, परन्तु पश्चिम बंगाल एवं पूर्व बंगाल के साथ उनका सम्बन्ध मृत्यु तक अटूट रहा । मैहर में उन्होंने मैहर वाद्यवृन्द की स्थापना की, इसे ही 'मैहर बैन्ड' के नाम से प्रसिद्धि मिली। प्रशंसा की बात यह है कि इन्होंने बड़े गुणियों के सम्पर्क में रहकर अपने व्यापक अनुभव के आधार पर वाद्य-संगीत के वादन को एक नया स्वरूप दिया जो 'अलाउद्दीन खाँ परम्परा' तथा 'मैहर घराना' के नाम से विश्व में परिचित हो गया । मूलतः यह सरोद का घराना है, परन्तु सितार, सुरबहार जैसे महत्त्वपूर्ण वाद्य तथा व्हायोलिन, इसराज, बाँसुरी, गिटार आदि वाद्यों का एवं गायन की तालीम भी इनकी परम्परा में दी जाती है । इस वंश परम्परा के दो भाग पश्चिम बंगाल एवं पूर्व बंगाल (वर्तमान बांग्लादेश) में रहकर संगीत-क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं । इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण भारत तथा विदेशों में भी इस परम्परा के शिष्यों-प्रशिष्यों का योगदान पाया जाता है । बंगाल में सितार वादन के क्षेत्र में इस परम्परा से अनेक गुणी कलाकार हुए जिन्होंने बंगाल तो क्या पूरी दुनिया भर में अपना-अपना योगदान दिया है । उनमें तिमिरबरन भट्टाचार्य, पं. निखिल बैनर्जी, पं. अजय सिंह राय, इन्द्रनील भट्टाचार्य आदि उल्लेखनीय है ।

इस क्षेत्र में पं. रविशंकर जी का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है, जिन्होंने उस्ताद अलाउद्दीन खाँ परम्परा से शिक्षा प्राप्त करके भारतीय शास्त्रीय संगीत के नाते सितार वाद्य को विश्व में परिचित कराके भारत का नाम रोशन किया है । यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है कि इस विश्वविख्यात सितार वादक तथा महान संगीतकार ने बंगाल के

संगीत-जगत में भी अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। सितार वादन के अतिरिक्त संगीत के अन्य क्षेत्रों में भी उनका योगदान पाया जाता है। वह एक उत्कृष्ट रचनाकार भी है। अन्तरराष्ट्रीय संगीत-जगत में एक महान एकल वादक और रचनाकार के रूप में ही जाने जाते है। कुछ विख्यात बांग्ला फ़िल्म जैसे - काबुलीवाला, पथेर पाँचाली, अपराजिता, सामान्य क्षति, दि वर्ल्ड ऑव़ अप्पु आदि में भी उन्होंने उत्कृष्ट संगीत निर्देशक का दायित्त्व निभाया है। फ़िल्म 'काबुलीवाला' के संगीत निर्देशन पर उन्हें सन् 1957 में 'दि सिल्वर ऑव़ बिवर बर्लिन' पुरस्कार प्राप्त हुआ । उन्होंने बंगाल के अनेक विद्यार्थियों को सितार की शिक्षा प्रदान की। पं. जी के अनेक शिष्य व शिष्या संगीत-क्षेत्र में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित होकर बंगाल में संगीत के विभिन्न स्तर पर कार्यरत है। उनमें दीपक चौधुरी, जया बोस, शंकर घोष, कार्तिक कुमार, शम्भुदास आदि उल्लेखनीय है। हमें आशा है कि आगे चलकर बंगाल के संगीत-जगत को पं. जी से और भी योगदान प्राप्त होगा ।

वाद्य-संगीत का एक महत्त्वपूर्ण घराना है 'इमदाद खाँ घराना'। नाम से ही पता चलता है कि इस घराने के संस्थापक स्वयं उस्ताद इमदाद खाँ है । इस घराने के कलाकार पिछली चार पीढ़ियों से सुरबहार और सितार की निरन्तर साधना करते रहे हैं । इन्होंने सुरबहार और सितार की वादन शैली को एक नया आयाम दिया हैं । बंगाल में सितार, सुरबहार तथा अन्य तार वाद्यों के वादन-क्षेत्र में भी इमदाद खाँ घराने का महत्त्वपूर्ण योगदान दृष्टिगोचर होता है ।

उस्ताद इमदाद खाँ का जन्म उत्तर प्रदेश के इटावा में सन् 1846 के लगभग हुआ । उस्ताद इमदाद खाँ को प्रारम्भिक शिक्षा पिता उस्ताद साहबदाद खाँ से प्राप्त हुई, जो इटावा के रहनेवाले थे । संगीत सीखने के उद्देश्य से तथा दरबारी संगीतकार के रूप में उस्ताद इमदाद खाँ ने इटावा, काशी, कोलकाता, जयपुर और इन्दौर आदि नगरों में अपना जीवन व्यतीत किया तथा उस्ताद साहबदाद खाँ से शिक्षा लेने के उपरान्त भारत के अनेक गुणी कलाकारों के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से सम्पर्क में रहे । इस प्रकार अनेक स्थानों पर भ्रमण करने और अनेक गुणीजनों के सम्पर्क में रहने के कारण इनके वादन में कुछ अन्य विशेषताएँ समायोजित हो गईं और यही कारण है कि इनकी अनूठी वादन विशेषताओं को लोगों ने 'इमदादखानी बाज़' कहना प्रारम्भ कर दिया । इमदाद खाँ कुछ वर्ष कोलकाता पाथुरियाघाटा के महाराजा जतीन्द्रमोहन ठाकुर के दरबार में दरबारी संगीतकार के रूप में रहे । उस काल

वहाँ उस्ताद सज्ज़ाद मोहम्मद खाँ दरबारी सुरबहार वादक थे । उस समय उनकी कुछ वादन शैलियों को भी उस्ताद इमदाद खाँ ने अपनाया था । इनके प्रमुख शिष्यों में सुपुत्र इनायत खाँ और वहीद खाँ तथा कल्याणी राय, प्रकाशचन्द्र सेन, मैमनसिंह गौरीपुर (वर्तमान बांग्लादेश) के महाराजा ब्रजेन्द्रकिशोर राय चौधुरी आदि हुए ।

अपने अन्तिम काल में उस्ताद इमदाद खाँ इन्दौर में तुकोजीराव होलकर के दरबार में सभावादक के रूप में कार्य करते रहे । वहाँ सन् 1920 में उनका स्वर्गवास हो गया । भले ही उस्ताद इमदाद खाँ स्थायी रूप से बंगाल में नहीं रहे, परन्तु इनके शिष्य परम्परा के माध्यम से वहाँ इस घराने का काफी प्रचार-प्रसार हुआ है । उस्ताद इमदाद खाँ के मृत्यु के पश्चात् इनके सुपुत्र तथा विशिष्ट सुरबहार ओर सितार वादक उस्ताद इनायत खाँ ने इन्दौर छोड़ दिया और सन् 1924 के लगभग स्थायी रूप से मैमनसिंह के गौरीपुर (वर्तमान बांग्लादेश) में चले गए । इसलिए यह गौरीपुर के इनायत खाँ नाम से भी पहचाने जाते है । सुरबहार और सितार वादन के क्षेत्र में इन्होंने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है । बंगाल में इन्होंने बहुत से लोगों को संगीत की शिक्षा प्रदान की। इनके शिष्यों में उल्लेखनीय नाम है - जितेन्द्रमोहन सेनगुप्त, बिमलाकान्त राय चौधुरी, बीरेन्द्रकिशोर राय चौधुरी, अमियकान्ति भट्टाचार्य, क्षेमेन्द्रमोहन ठाकुर, जॉन गोमेस, ज्ञानकान्त लाहिड़ी, बिपिनचन्द्र दास, बिमलेन्दु मुखर्जी आदि। शिष्य मण्डली के माध्यम से उस्ताद इनायत खाँ ने सितार और सुरबहार को बंगाल में घर-घर पहुँचा दिया । इनके सुपुत्र उस्ताद विलायत खाँ का नाम भारत के श्रेष्ठ सितार वादकों में से एक है ।

उस्ताद विलायत खाँ ने अपने घराने का नाम खूब रोशन किया । इनको देश-विदेश में कई पुरस्कारों से सम्मानित किया जा चुका है । इन्होंने वाद्य की बनावट में परिवर्तन किया, तार मिलाने की पद्धति को बदल दिया, गायन की कई अकल्पनीय हरकतों का उपयोग किया। इस प्रकार उस्ताद विलायत खाँ ने सितार वादन की वादन तकनीक एवं वादन शैली को अत्यन्त समृद्ध किया । अपनी सूझ-बूझ के द्वारा तथा ख़ानदानी सितारिये होने के कारण उन्होंने एक नई वादन शैली को विकसित किया, जिसे संगीत-जगत में सदैव स्मरण किया जाता रहेगा । बंगाल प्रदेश के साथ इनका प्रत्यक्ष न सही, परन्तु अप्रत्यक्ष सम्बन्ध अवश्य रहा है। इनके शिष्यों के माध्यम से बंगाल में इनकी वादन शैली का उपयोग दृष्टिगोचर होता है ।

इनके प्रमुख शिष्यों में काशीनाथ मुखोपाध्याय, कल्याणी राय, बेंजामिन गोमस, हसमत अली खाँ विशेष उल्लेखनीय है। खाँ साहब के पुत्र शुजात खाँ भी एक प्रतिष्ठित सितार वादक है ।

उल्लिखित कलाकारों के अतिरिक्त वर्तमान समय में सितार वादन के क्षेत्र में बंगाल के कुछ प्रतिष्ठित कलाकारों का नाम लेना आवश्यक है, जो विभिन्न घराने के प्रसिद्ध संगीत गुणियों से शिक्षा प्राप्त करके संगीत-क्षेत्र के विभिन्न पद पर कार्यरत है । उनमें उल्लेखनीय नाम है देवीप्रसाद चटर्जी, देबव्रत चौधुरी, अशोक घोष, संजय बैनर्जी, बुधादित्य मुखर्जी, कुशल दास, पूर्बायन चटर्जी आदि । अतः हम देखते है कि बंगाल में अनेक घरानेदार सितार वादक हुए, जो भारतीय संगीत के शास्त्रीय पक्ष तथा अन्य पक्षों पर भी सितार का वादन करते आ रहे है ।

सितार के घराने के सम्बन्ध में पं. अरविन्द पारिख का मत है कि, "सितार के विकास और वादन शैली के आधार पर दो ही घराने दृष्टिगोचर होते है - एक है उस्ताद विलायत खाँ का दूसरा पं. रविशंकर जी का । एक और तीसरा सेनियों का बाज कहा जाता है । इस सेनिए बाज का अर्थ मैं यह समझता हूँ कि सही तरीके से गाना बजाना हो तथा राग भी शुद्ध हो। आज भी जो उस्ताद विलायत खाँ साहब बजाते है वह सेनियों के अंग का ही विकास है। इसी प्रकार पं. रविशंकर जी भी जो बजाते है वह भी सेनी शैली का ही विकसित रूप है। मैं घराने को व्यापक रूप में देखता हूँ" ।[31] पं. अरविन्द पारिख का यह मत यहाँ इसलिए दिया गया क्योंकि बंगाल के साथ भारत के अन्य प्रदेशों में भी विभिन्न घरानों के अनेक कलाकार हुए और इन सभी कलाकारों की वादन शैली में कहीं न कहीं समता जरूर सुनने को मिलती है ।

19वीं सदी के पूर्वार्ध से शास्त्रीय संगीत में सितार के साथ सुरबहार वाद्य का भी प्रचलन आरम्भ हुआ था । 20वीं सदी के उत्तरार्ध तक कलाकार इस पर बीन की शैली से आलाप, जोड़ व झाला बजाते तथा सितार पर गत्-तोड़ा आदि बजाते थे । आज सुरबहार वाद्य प्रायः अप्रचलित है ।

वर्तमान समय में पश्चिम बंगाल में सितार का प्रयोग संगीत के शास्त्रीय पक्ष पर ही सर्वाधिक दृष्टिगोचर होता है । वहाँ भारतीय संगीत के वृन्दवादन में इस वाद्य को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है । इसके अतिरिक्त संगीत के विभिन्न पक्ष अर्थात बंगाल की गीत शैलियाँ

जैसे - बंगाली टप्पा, राग-प्रधान बांग्ला गान, रवीन्द्र संगीत, नज़रूल संगीत एवं अतुल प्रसाद, द्विजेन्द्रलाल राय, रजनीकान्त सेन आदि कवि-संगीतकारों के गीतों में तथा वर्तमान रचनाकारों के संगीत में सितार का सफल प्रयोग देखने को मिलता है । बंगाली नाटक तथा फ़िल्मों के पार्श्व-संगीत में भी इस वाद्य का प्रयोग किया जाता है ।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि वर्षों की गवेषणा के बाद सितार वाद्य ने अपना वर्तमान रूप धारण किया एवं सम्पूर्ण भारत में एक महत्त्वपूर्ण शास्त्रीय वाद्य के रूप में इसका सफल प्रयोग हो रहा है । बंगाल में सितार के सर्वप्रथम प्रयोग काल से लेकर वर्तमान तक इस वाद्य की लोकप्रियता दृष्टिगोचर होती है । आज बंगाल के घर-घर में सितार का अभ्यास होता दिखाई देता है ।

सरोद और सुरसिंगार

सरोद : वर्तमान समय में 'सरोद' को भारतीय शास्त्रीय संगीत का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण वाद्य माना जाता है । अन्य वाद्यों के समान इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी विभिन्न मत पाए जाते है । विभिन्न ग्रन्थकारों ने सरोद को विदेशी वाद्य स्वीकार किया है, परन्तु सरोद की आकृति से मिलता-जुलता वाद्य प्राचीन भारतीय शिल्पाकृतियों में अवश्य मिलता है । उस वाद्य को धारण करने की शैली भी वर्तमान सरोद की धारण शैली से मिलती है । ऐतिहासिक वर्णन के अनुसार, "ईसा पूर्व 200 से लेकर 5वीं सदी तक सरोद की आकृति से मिलता-जुलता वाद्य भारत में प्रचलित था । सम्भव है कि कालक्रम से इस प्रकार का वाद्य लुप्त हो गया हो" ।[32] स्वामी प्रज्ञानानन्द जी ने सरोद का संस्कृत नाम शारदीय वीणा बताया है, परन्तु किसी भी मध्यकालीन संस्कृत ग्रन्थो में इस वाद्य का उल्लेख नहीं है । कुछ लोग इसे 'हस्त कुम्ब' वीणा के नाम से भी जानते है । किन्तु इन नामों का कोई ग्रन्थाधार प्राप्त नहीं होता ।

डॉ. बी. चैतन्य देव के अनुसार, "सिर्फ कल्पना के अतिरिक्त इसका कोई आधार दिखाई नहीं देता है क्योंकि भारतीय संगीत साहित्य में इस प्रकार की वीणा की कहीं कोई चर्चा नहीं है" ।[33] उनका कहना है कि, "सन् 913 में समरकन्द के इलाके से कोई इब्न-अल-अब्बास आया था जिसने असाधारण गोलाई का एक तारवाला साज़ बनाया जिसे

'शरूद' कहा गया । प्राचीन भारतीय फ़ारसी साहित्य में भी सरोद की चर्चा हुई है"।[34] उन्होंने मध्य एशिया के प्राचीन वाद्य 'उद' (छोटी ग्रीवावाली एक किस्म की वीणा है जो आज भी पायी जाती है) के साथ सर शब्द को युक्तकर 'सर-उद' कहा है एवं यह भी कहा है कि सम्भवतः सरोद मध्य एशिया के इसी वाद्य से विकसित हुआ हो। "ग्रोवस संगीत कोश के अनुसार सरोद की उत्पत्ति पश्चिम एशिया के रबाब से हुई। मोहम्मद करम इमाम का भी यही मत है"।[35]

प्राचीन काल में सरोद की आकृति का वाद्य भारत में प्रचलित था। डॉ. लालमणि मिश्र के अनुसार, "रबाब, सुरसिंगार तथा सरोद का आदि रूप प्राचीन चित्रा वीणा में देखा जा सकता है । सामान्य रूप से यदि देखा जाय तो रबाब, सुरसिंगार तथा सरोद एक ही जाति के वाद्य हैं"।[36]

बहु मत यह कहता है कि अरब, अफगानिस्तान आदि देशों से रबाब वाद्य भारत आया और रबाब का ही परवर्ती रूप सरोद है । अरब, इरान, अफगानिस्तान का प्राचीन भारत से बहुत निकट सम्बन्ध था। अफगानिस्तान तो किसी समय भारत का ही अविभाज्य अंग था । इस दृष्टि से सरोद जैसे वाद्य का वहाँ प्रचार होना अस्वाभाविक नहीं है । "उस्ताद हाफिज़ अली खाँ का मत यह है कि, 'सरोद' यह अफगानिस्तान का साज़ है और काबुल से इसे हिन्दुस्तान लाया गया । काबुल में इस वाद्य को 'रबाब' कहा जाता है"।[37]

'रबाब' अरबी शब्द है । इसके विभिन्न प्रकार इस्लामी देशों में सर्वत्र प्रचलित हैं । "श्री एस. एम. ठाकुर ने भारतीय रूद्रवीणा और रबाब को एक ही वाद्य बताया है । उन्होंने रबाब वाद्य के शीर्षक में रूद्रवीणा भी लिखा है और वर्णन में कहा है कि भारत में यवन लोगों के आक्रमण के पूर्व यह वीणा रूद्रवीणा नाम से प्रचलित थी । कालान्तर में यवन राज्यकाल में यवन राजाओं द्वारा रबाब नाम दिया गया"।[38] "उस समय इसे 'यान्त्रिक' यन्त्र भी कहते थे"।[39] आधुनिक विद्वान स्वामी प्रज्ञानानन्द जी ने भी रबाब को वीणा का प्रकार बताया है और कहा है कि, "इस वाद्य को रूद्रवीणा के नाम से जाना जाता है । अफगानिस्तान और फ़ारस देश में रूद्रवीणा को 'रबाब' नाम से जाना जाता है और अरब में 'रूबाब' कहते है"।[40]

अत: देखा जाता है कि मुस्लिम आगमन के पूर्व भी इस प्रकार के वाद्य भारत में प्रचलित था, जिसने समयान्तर में परिवर्तित होते हुए वर्तमान 'सरोद' का आकार धारण किया। राजा बीरेन्द्रकिशोर राय चौधुरी के 'जनप्रिय यन्त्र सरोद' नामक लेख के आधार पर श्री लक्ष्मीनारायण घोष ने अपने ग्रन्थ 'गीत-वाद्यम्' में लिखा है कि, 'सरोद' अथवा 'शारोद' यह काबुली शब्द है । काबुल में इसे 'शहरूद' कहा जाता है और वहाँ यह वाद्य काफी प्रचलित भी है" ।[41] "कालान्तर में यही नाम (शहरूद) भारत में 'सरोद' नाम से ग्रहण किया गया" ।[42]

भारतीय संगीत के ऐतिहासिक विवरणात्मक ग्रन्थों में मुगल सम्राट अकबर के समय तक दरबारी कलाकारों में किसी सरोद वादक का उल्लेख नहीं मिलता है । अकबरकालीन ग्रन्थ "आईन-ए-अकबरी (लेखक अबुल फज़ल, सन् 1590) में रबाब का वर्णन किया गया है, परन्तु सरोद का नहीं" ।[43] "राग दर्पण (ई. सन् 1671) नामक ग्रन्थ के लेखक फ़कीरूल्ला ने 15वीं शताब्दी में सरोद का होना अवश्य बताया है और शेख पीर मोहम्मद को सरोद वादन की नई शैली का प्रवर्तक भी कहा है" ।[44]

आचार्य बृहस्पति ने भी राग दर्पण के आधार पर लिखा है कि, "मानसिंह तोमर के राज्यकाल के बरनावा निवासी शेख बहाउद्दीन (वे 117 वर्ष तक जीवित रहे, इनका मृत्यु ई. सन् 1628 में हुआ) के शिष्य शेख पीर मोहम्मद ने जहाँ ध्रुपदों और तरानों की रचना की तथा हुसेन शाह शर्की की शैली को पूनर्जीवित किया वहाँ सरोद वादन की नवीन शैली भी प्रवर्तित की" ।[45] "फ़कीरूल्ला ने राग दर्पण के 10वें प्रकरण मे मियाँ डालु ढाड़ी नामक कलाकार के सम्बन्ध में लिखा है कि, वे बहुत ही अच्छा सरोद बजाते थे और उसके समान वादक उस काल में नहीं था" ।[46]

अत: इ. सन् 1671 में रचित राग दर्पण ग्रन्थ के आधार पर कह सकते हैं कि उस वक्त सरोद का प्रादूर्भाव हो चुका था । राग दर्पण के अनुसार सन् 1671 तक सरोद का प्रादूर्भाव भले ही हो चुका था, परन्तु मुगल शासनकाल में इस वाद्य को विशेष सम्मान प्राप्त नहीं था । क्योंकि 18वीं शताब्दी तक किसी प्रसिद्ध सरोद वादक का नाम प्राप्त नहीं होता । इससे यह प्रतीत होता है कि उस काल के अन्य प्रतिष्ठित वाद्यों की तुलना में इस वाद्य की

वादन शैली अविकसित रही होगी। भारतीय संगीत की विशेषताओं को व्यक्त करने की क्षमता न होने के कारण इसे सम्मान प्राप्त नहीं हो पाया था । सरोद के सम्मानित वाद्य के रूप में स्थान प्राप्त करने का समय बहुत अधिक पुराना नहीं है । सरोद वादक के रूप में सर्वप्रथम मियाँ डालु ढाड़ी का नाम तो मिलता है, परन्तु इस वाद्य को सम्मानजनक स्थान रामपुर के नवाब हामिद अली खाँ (राज्यकाल 1889-1930) के समय में विशेष रूप से प्राप्त हुआ । उनके दरबार में फिदाहुसेन खाँ नामक प्रसिद्ध सरोद वादक का नाम प्राप्त होता है । कहा जाता है कि रामपुर के गुलाम अली डोम भी सरोद वादन में अपने युग के (वाजिद अली शाह के समय में) अप्रतिम कलाकार थे । इनकी मृत्यु लगभग 1850 ई. में हुई । इस उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि सरोद को शास्त्रीय संगीत में उस काल में सम्मानजनक स्थान प्राप्त हो गया था । किसी वाद्य को सम्मान प्राप्त कराने में बहुत समय लगता है । इस दृष्टि से आधुनिक सरोद का पूर्व रूप मुगल काल में भले ही प्रचलित रहा हो, परन्तु वर्तमान रूप प्राप्त करने में इसे बहुत संघर्ष करना पड़ा ।

उस्ताद हाफिज अली खाँ के अनुसार काबुल से सरोद वाद्य को हिन्दुस्तान लाया गया। वहाँ इसे लोग रबाब कहते हैं। विद्वानों का कहना है कि, "हाफिज़ अली खाँ के प्रपितामह बंगस गुलाम बन्दगी खाँ के द्वारा काबुल से रबाब वाद्य भारत आया"[47] और "काबुली रबाब को वर्तमान 'सरोद' का रूप देना इन्हीं का ही कार्य है"।[48] एक धारणा यह है कि, "उस्ताद सखावत हुसैन खाँ के पूर्वज काबुल से दिल्ली आकर बस गए थे और सरोद को इन्होंने प्रचलित किया"।[49] मोहम्मद करम इमाम ने भी लिखा है कि, "सरोद रबाब से निकला मगर उँचाई में डेढ़ गुना है"।[50] "हिन्दुस्तानी संगीत की परम्परा से सरोद को परिचय करवाने का श्रेय गुलाम बन्दगी के पुत्र गुलाम अली खाँ बंगश को दिया जाता है, जिनसे एक महत्त्वपूर्ण सरोद का घराना आरम्भ हुआ"।[51]

उल्लेखनीय है कि, पूर्व में सरोद वाद्य से रबाब की तरह लकड़ी की स्वर पट्टिका में ताँत के तार पर उंगली दबाकर स्वर निकालने कि पद्धति प्रचलित थी, किन्तु 19वीं शताब्दी में सुरसिंगार वाद्य का आविष्कार और प्रचार के पश्चात् सरोद की काष्ठ पट्टी पर भी फौलाद की पट्टी (स्टील प्लेट) लगायी गई और फौलाद के तारों का प्रयोग आरम्भ हुआ । सरोद पर स्टील प्लेट लगाने के सम्बन्ध में मतभेद दिखाई देता है । "आचार्य बृहस्पति जी का मत है कि

गुलाम बन्दगी खाँ के पौत्र तथा गुलाम अली खाँ के पुत्र मुराद खाँ ने सरोद पर फौलाद की पट्टी चढ़ाई और फौलाद के तार चढ़ाए"।[52] श्री बुद्धदेव दासगुप्त के अनुसार - सरोद पर फौलाद की पट्टी चढ़ाने के सम्बन्ध में मतभेद पाया जाता है । हर घराने का कलाकार इसका श्रेय स्वयं लेता है ।

इस प्रकार सरोद के आविष्कार, प्रचार तथा परिवर्तन-परिवर्धन के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत पाए जाते है, परन्तु विषय से सम्बन्ध रखते हुए यहाँ सिर्फ इतनी ही चर्चा करने योग्य है ।

बंगाल प्रदेश में सरोद के प्रचार सम्बन्धित विषय में भी मतभेद देखा जाता है। "बंगाल और बिहार में सरोद के प्रचार का श्रेय गुलाम अली खाँ के पुत्र मुराद खाँ को ही दिया जाता है"।[53] इनके सुपुत्र अहमद अली खाँ हुए जिनसे उस्ताद अलाउद्दीन खाँ ने शिक्षा प्राप्त की थी । मुराद खाँ के दत्तक पुत्र तथा सरोदिये अमीर खाँ के पिता अब्दुल्ला खाँ ने भी इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है । अतः देखा जाता है कि यह प्रचार 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से आरम्भ हुआ था ।

श्री S. Krishnaswami की पुस्तक "Music Instruments of India" के पृष्ठ नं. 48 के आधार पर 'गीत वाद्यम' ग्रन्थ में बताया गया है कि कुछ गुणियों का कहना है बीनकार घराने के मुहम्मद खाँ के शिष्य तथा सरोदिये करामतुल्ला खाँ (लखनऊ सरोद घराने के प्रतिनिधि) के भाई "आसादुल्ला खाँ (कौकभ खाँ) साहब ने 19वीं शताब्दी के अन्त में बंगाल में सर्वप्रथम सरोद वाद्य का प्रचलन किया और इसलिए सरोद के निर्माण में सर्वप्रथम बंगाल का ही नाम आता है एवं बंगाल प्रदेश में ही इसका प्रचलन सबसे अधिक है"।[54] सरोद वादन के क्षेत्र में बंगाल में इन दोनों भाईओं ने (करामतुल्ला खाँ और आसादुल्ला खाँ ने) बहुमूल्य योगदान दिया । इस वाद्य के प्रचार-प्रसार में मुराद खाँ के शिष्य तथा पौत्र अमीर खाँ (1876-1934) का भी बड़ा योगदान रहा। अमीरखानी बाज (सरोदिये का) इन्हीं के नाम से प्रचलित हुआ । इन्होंने बंगाल के अनेक लोगों को सरोद वादन की शिक्षा दी थी । वह बंगाल के विभिन्न राजा-महाराजा तथा जमिन्दारों के सभावादक रहे। पं. राधिकामोहन मैत्र के पितामह

ललितमोहन मैत्र राजशाही के तालन्दर गाँव (पूर्व बंग) के जमिन्दार थे। उनके वहाँ अमीर खाँ 30 साल तक रहे । बंगाल में उस्ताद अमीर खाँ की शिष्य परम्परा में ब्रजेन्द्रकिशोर राय चौधुरी, बीरेन्द्रकिशोर राय चौधुरी, पं. राधिकामोहन मैत्र, बिमलाकान्त राय चौधुरी, तिमिरबरन भट्टाचार्य आदि उल्लेखनीय है ।

परवर्ती में इस क्षेत्र में विश्वविख्यात संगीत गुरू उस्ताद अलाउद्दीन खाँ साहब तथा उनकी परम्परा का नाम बहुत ही सम्मान और प्यार के साथ लिया जाता है । उन्होंने सिर्फ सरोद ही नहीं बल्कि अन्य अनेक भारतीय वाद्यों की शिक्षा भी बहुत से लोगों को दी थी । उन वाद्यों में से सितार एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण वाद्य है, परन्तु उस्ताद अलाउद्दीन खाँ परम्परा में सरोद ही मुख्य वाद्य रहा। उन्होंने सरोद की वादन शैली को एक नया आयाम दिया । ध्रुपदांगी आलाप को अच्छे ढंग से प्रस्तुत करने के लिए आपने सरोद वाद्य के आकार और तारों की संख्या में भी परिवर्तन किया । उस्ताद अलाउद्दीन खाँ एवं उनके भाई उस्ताद आयत अली खाँ (वर्तमान बांग्लादेश निवासी थे) ने दाण्ड की गहराई (ऊँचाई) को कम किया, इससे सरोद की आवाज़ में सुधार हुआ तथा उसे बैठकर बजाने में भी सुविधा हुई । वर्तमान में प्रायः सरोद का आकार इसी प्रकार का दिखाई देता है । पूर्व प्रचलित छः तारवाले सरोद में इन्होंने दो थाट के तार का और संयोजन किया, जिससे राग का समां बनने में और अधिक मदद मिलती है । आज उस्ताद अलाउद्दीन खाँ घराने में आठ तार का ही सरोद प्रचलित है । इनके द्वारा सरोद सामान्यतः काली एक स्वर में मिलाया जाता था । उन्होंने नए वाद्यों का सृजन किया, वाद्यों में सुधार किए, नई-नई बन्दिशें रचीं । इसी प्रकार उन्होंने कुछ रागों का भी निर्माण किया, जिन्हें उनके शिष्य समुदाय द्वारा आज भी यदा-कदा प्रस्तुत किया जाता है । अपने सुपुत्र उस्ताद अली अकबर खाँ को संगीत की शिक्षा देकर इन्होंने जो वाद्य-संगीत का गौरव बढ़ाया है वह अप्रतिम है । उस्ताद अली अकबर जैसे महान संगीतकार से वाद्य-संगीत तथा सरोद वादन का नया इतिहास प्रारम्भ हुआ । बंगाल में इनके अन्य प्रमुख शिष्यों में बीरेन्द्रकिशोर राय चौधुरी, उस्ताद बहादुर खाँ, सुप्रभात पाल, श्याम गांगुली, आशिष खाँ आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है ।

उस्ताद अलाउद्दीन खाँ ने अपना निवासस्थान मैहर (मध्यप्रदेश) को बनाया था, परन्तु वहाँ रहकर भी अपनी जन्मभूमि बंगाल के लिए उनका प्यार तथा सांगीतिक योगदान स्पष्ट

रूप से दिखाई देता है । वक्त मिलते ही वह अपने गाँव (पूर्व बंगाल में ब्राह्मणबाड़िया जिले के शिवपुर गाँव) चले जाते थे और वहाँ अपनी वंश परम्परा के लोग तथा अन्य लोगों को संगीत की शिक्षा देते थे । आज भी पूर्व बंग अर्थात वर्तमान बांग्लादेश में उनके वंशजों का निवास है। उनके भाई उस्ताद आयत अली खाँ तथा अन्य भाईओं के परवर्ती वंशज स्थायी रूप से बांग्लादेश में ही निवास कर रहे है तथा संगीत-क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहे है ।

उस्ताद अलाउद्दीन खाँ के सुपुत्र तथा आधुनिक युग के अग्रणी सरोद वादक उस्ताद अली अकबर खाँ का जन्म 14 अप्रैल सन् 1922 को ब्राह्मणबाड़िया जिले के शिवपुर गाँव (वर्तमान बांग्लादेश में) में हुआ । इनकी शिक्षा-दिक्षा मैहर में अपने पिता से हुई । परवर्ती में वह पश्चिम बंगाल के कोलकाता में स्थायी रूप से निवास करने लगे ।

उस्ताद अली अकबर खाँ का सरोद वादन इतनी तन्मयता लिए हुए होता है, जो इनकी कला की सम्पन्नता को दर्शाता है । सुरीलापन, मधुरता एवं कल्पनात्मकता इनके वादन-कला की विशेषता है । इन्होंने देश के अतिरिक्त विदेशों में भी भारतीय संगीत को स्थापित किया । सेन राफेल (अमरीका) में दो दशक पूर्व संगीत विद्यालय की स्थापना की । उस्ताद अली अकबर खाँ को 'मैक आर्थर फ़ाउन्डेशॅन की फ़े'लोशिप' मिली । यह फ़े'लोशिप शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में असाधारण योगदान और उसके विश्व भर में प्रचार के लिए दी गई। उन्होंने अनेक नवीन रागों की रचना की तथा कई फ़िल्मों में संगीत निर्देशन के माध्यम से फिल्म-जगत में शास्त्रीय संगीत को स्थापित करने का भी प्रयत्न किया । वर्तमान सरोद वादन के क्षेत्र में इनके प्रस्तुतिकरण ने जहाँ एक ओर प्राचीन सरोद वादन की भव्यता को प्रदर्शित किया, वहीं दूसरी ओर सरोद वादन में नवीन शैली को भी स्थापित किया । इन्होंने बंगाल तथा भारत तो क्या ! पूरे विश्व भर में अनेक शिष्य तैयार किए जिनके द्वारा भारतीय संगीत का प्रचार पूरी दुनिया में हो रहा है । इनके सुपुत्र आशीष खाँ वर्तमान सरोद वादकों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है । वह कोलकाता में निवास कर रहे है । सरोद वादन के साथ-साथ संगीत के अन्य क्षेत्रों में भी वे अपना बहुमूल्य योगदान दे रहे है । खाँ साहब के द्वितीय पुत्र ध्यानेश खाँ भी अच्छा सरोद वादन कर रहे थे एवं रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय (कोलकाता) में कार्यरत थे, परन्तु अक्तूबर सन् 1991 में दूर्भाग्य से इनका स्वर्गवास हो गया ।

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY
201
M. S. University of Baroda

सरोद का एकल वादन तथा इस वाद्य को संगीत के विभिन्न क्षेत्रों में प्रयोग करनेवाले बंगाल के कुछ और महान कलाकार है पं. राधिकामोहन मैत्र, बीरेन्द्रकिशोर राय चौधुरी, श्री श्याम गांगुली, श्री जतीन्द्रनाथ भट्टाचार्य, तिमिरबरन भट्टाचार्य आदि । यह सभी कलाकार सिर्फ सरोद वादक ही नहीं बल्कि अच्छे संगीत निर्देशक तथा रचनाकार भी थे । इन कलाकारों ने सरोद को सिर्फ शास्त्रीय पक्ष पर ही नहीं बल्कि संगीत के विभिन्न पक्षों पर प्रयोग कर इस वाद्य को एक महत्त्वपूर्ण वाद्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है । तिमिरबरन भट्टाचार्य, श्री श्याम गांगुली, श्री जतीन्द्रनाथ भट्टाचार्य आदि कलाकारों ने परम्परागत शिक्षा प्राप्त करके भारत तथा विदेशों में भी सरोद वादन कर संगीत-प्रेमी श्रोताओं का मनोरंजन किया एवं काफी प्रशंसा प्राप्त की ।

बीरेन्द्रकिशोर राय चौधुरी अपने पिता ब्रजेन्द्रकिशोर राय चौधुरी के समान ही उँचे स्तर के संगीत मर्मज्ञ थे । भारत के अनेक गुणी कलाकारों द्वारा उन्हें संगीत का ज्ञान प्राप्त हुआ । वह अनेक भारतीय वाद्यों जैसे - इसराज, सितार, सरोद, सुरबहार, सुरसिंगार, रबाब तथा वीणा आदि के कुशल वादक थे । आकाशवाणी तथा संगीत नाटक अकादमी से उनका सम्बन्ध रहा । संगीत विषयक अनेक लेख भी लिखे । सन् 1956 में भारत सरकार द्वारा उन्हें 'फ़े'लो ॲव़ दि अकादमी' उपाधि प्रदान की गई । अतः हम देखते हैं कि केवल सरोद वादक के रूप में ही नहीं, बल्कि एक महान संगीतकार के रूप में भी इन्होंने संगीत-क्षेत्र में अपना योगदान दिया ।

पं. राधिकामोहन मैत्र राजशाही के तालन्दर गाँव (वर्तमान बांग्लादेश) के जमिन्दार ललितमोहन मैत्र के पौत्र थे । इनकी शिक्षा गुलाम अली खाँ के वंशज मोहम्मद अमीर खाँ सरोदिये एवं बाद में वजीर खाँ के पौत्र दबीर खाँ से हुई । इन्होंने अपने चिन्तन एवं मनन से तत्कालीन प्रचलित सरोद शैली में ख्याल शैली का संमिश्रण किया । अप्रचलित राग जो तन्त्री वाद्यों पर प्रायः सुनाई नहीं देते, इन रागों को बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करना इनकी खास विशेषता थी । वह एक अच्छे रचनाकार भी थे । इनके द्वारा बनाई गई गतों की यह विशेषता है कि, राग को एक अलग रूप से प्रस्तुत करती है । यह उनकी सूझ-बूझ ही थी कि राग के स्वरूप को खण्डित किए बिना वह उसे एक अलग दृष्टिकोण से सुन्दर रूप में गत् के माध्यम से प्रस्तुत करते थे । उन्होंने कई रागों का निर्माण किया तथा सुरसिंगार और सरोद के

संमिश्रण से एक नया वाद्य तैयार किया था, जिसे वह 'मोहन वीणा' के नाम से सम्बोधित करते थे । उसके अतिरिक्त दिलबहार एवं नवदीपा नामक और दो वाद्य भी तैयार किए थे । इन्होंने 'यन्त्र क्षेत्र प्रवेशिका' नामक पुस्तक भी लिखी । इनके प्रमुख शिष्यों में बुद्धदेव दासगुप्त, संजय बैनर्जी आदि है ।

बुद्धदेव दासगुप्त देश के एक प्रसिद्ध सरोद वादक है । इन्होंने अपने घराने के साथ-साथ अन्य घराने की सरोद वादन शैली पर भी गहराई से चिन्तन, मनन किया है तथा रबाब बाज पर आधारित शैली एवं सेनियाँ घराने की शैली को मिलाकर एक विशेष शैली को विकसित किया । देश के अतिरिक्त वह विदेशों में भी सरोद वादन करते है । वह संगीत के एक योग्य शिक्षक और चिन्तक है । इसके अतिरिक्त वह संगीत निर्देशन में भी निष्णात है । इन्होंने कई शिष्य तैयार किए है । देवाशीष भट्टाचार्य (सरोद वादक) इनके शिष्यों में से एक है । पं. बुद्धदेव दासगुप्त संगीत रिसर्च अकादमी कोलकाता से सम्बद्ध है । तेजेन्द्र मजुमदार बंगाल के एक और प्रतिष्ठित सरोद वादक है । इसके अतिरिक्त कमल मल्लिक, समरेन्द्रनाथ शिकदार, अलोक लाहिड़ी, जयदीप घोष, नरेन धर आदि कलाकारों के नाम इस क्षेत्र में विशेष उल्लेखनीय है ।

सरोद वादन के क्षेत्र में उपरोक्त कलाकारों के योगदान को देखते हुए यह कहना अनुचित नहीं होगा कि 19वीं सदी के अन्त से बंगाल में सरोद वाद्य का प्रयोग पूरी तरह आरम्भ होकर वर्तमान में भी सफलता के साथ हो रहा है । पश्चिम बंगाल में सरोद वाद्य शास्त्रीय एकल वादन तथा वृन्दवादन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । शास्त्रीय शैलियाँ जैसे ध्रुपद-धमार से सम्बन्धित रचनाओं में सरोद का खास प्रयोग होता है । इसके अतिरिक्त बंगाल के सभी प्रकार के गीत शैलियों, नाटक एवं फ़िल्मों के पार्श्व-संगीत तथा नवीन रचनाकारों के संगीत में इस वाद्य का प्रयोग सफलता के साथ देखने को मिलता है । बंगाल के संगीत विश्वविद्यालयों में भी इस वाद्य की शिक्षा प्रदान की जाती है ।

सुरसिंगार : 19वीं सदी में सरोद से मिलते-जुलते वाद्य 'सुरसिंगार' का प्रचलन भी बंगाल में था । इसे 'स्वर श्रृंगार' भी कहते है । कहा जाता है कि रबाब वाद्य का ही अल्प परिवर्तित रूप 'सुरसिंगार' है। छज्जु खाँ कलावन्त (परम्परागत रबाब वादक) के तीन पुत्र जाफर खाँ, प्यार खाँ और बासत खाँ हुए । इन्हें त्रिरत्न कहा जाता था ।

इन कलाकारों के पश्चात् रबाब वादन धीरे-धीरे कम होने लगा था। ये लोग तत्कालीन बादशाह के उस्ताद थे । इन्हीं के द्वारा सुरसिंगार वाद्य का आविष्कार हुआ, परन्तु इसके निर्माण विषयक अनेक मतभेद पाए जाते है । "मोहम्मद करम इमाम ने इस वाद्य के आविष्कारक के रूप में प्यार खाँ का नाम लिया है । महाराष्ट्र के ज्ञानकोश से भी इसी प्रकार की जानकारी मिलती है" ।[55] "श्री ओ. गोस्वामी एवं बिमलाकान्त राय चौधुरी के अनुसार जाफर खाँ ने वाराणसी के कारीगर से इस वाद्य का निर्माण कराया था" ।[56] श्री एच. ए. पोपले के मतानुसार, "रामपुर के नवाब कल्बे अली खाँ बहादुर ने सर्वप्रथम इस वाद्य का आविष्कार किया" ।[57]

छज्जु खाँ के पुत्र वंश में रबाब के साथ सुरसिंगार वादन का भी प्रचलन था । इनके तीन पुत्रों में से "बासन खाँ एवं उनके दो पुत्र अली मुहम्मद और मुहम्मद अली (1834-1927) का बंगाल के संगीत-जगत से गहरा सम्बन्ध था । कोलकाता पाथुरियाघाटा के जमिन्दार हरकुमार ठाकुर (सौरीन्द्रमोहन ठाकुर के पिता) बासत खाँ के शिष्य थे । उन्होंने बासत खाँ को 'संगीत नायक' उपाधि प्रदान की थी" ।[58]

उल्लेखनीय है कि, "हरकुमार ठाकुर के पुत्र सौरीन्द्रमोहन ठाकुर बासत खाँ के पुत्र अली मुहम्मद खाँ के अन्यत्तम शिष्य में से एक है" ।[59] इन कलाकारों ने बंगाल के और भी अनेक लोगों को संगीत की शिक्षा दी । अत: यह निश्चित है कि उस समय से बंगाल में सुरसिंगार का प्रचार-प्रसार आरम्भ हुआ था । इन तथ्य के आधार पर यह प्रतीत होता है कि 19वीं सदी के पूर्वार्ध से 20वीं सदी के पूर्वार्ध तक बंगाल में सुरसिंगार का प्रयोग काफी था । प्राय: सभी कलाकार सरोद के साथ सुरसिंगार का भी वादन करते थे । किन्तु दु:ख की बात यह है कि वर्तमान में इस सुरीली आवाज़वाले वाद्य का प्रयोग नहीं के बराबर हो गया है ।

आज-कल प्रहार वाद्यों में सितार और सरोद के अतिरिक्त सन्तुर, गिटार आदि वाद्यों का भी शास्त्रीय प्रयोग बंगाल में देखा जाता है, परन्तु यह प्रयोग बहुत ही कम दृष्टिगोचर होता है ।

देश विभाजन के समय तक बंगाल में शास्त्रीय प्रहार वाद्यों के प्रयोग विषयक चर्चा सम्पूर्ण बंगाल के परिप्रेक्ष में की गई है । देश विभाग के बाद अनेक घरानेदार कलाकार ही

स्थायी रूप से पश्चिम बंगाल में निवास करने लगे, परन्तु कुछ कलाकारों ने पूर्व बंगाल तथा वर्तमान बांग्लादेश को अपना स्थायी निवास क्षेत्र बनाकर सांगीतिक कार्य को आगे बढ़ाया ।

बांग्लादेश में शास्त्रीय प्रहार वाद्यों में सितार और सरोद का ही अधिक प्रयोग देखा जाता है। इन वाद्यों के प्रयोग क्षेत्र में उस्ताद अलाउद्दीन खाँ परम्परा का महत्त्वपूर्ण योगदान पाया जाता है। इनके भाई फ़किर अफताब उद्दीन खाँ एवं उस्ताद आयत अली खाँ दोनों ही गुणी संगीतज्ञ थे । इन्होंने बांग्लादेश के संगीत-क्षेत्र को आगे बढ़ाने में योगदान दिया । इनके वंश में अनेक गुणी सितार और सरोद वादक हुए, जिनका योगदान बांग्लादेश के इस क्षेत्र में पाया जाता है । उस्ताद अलाउद्दीन खाँ साहब भी समय-समय पर पैतृक भूमि ब्राह्मणबाड़िया में जाकर अपने वंश के लोगों तथा अन्य लोगों को भी संगीत की शिक्षा प्रदान करते थे । इनके बड़े भाई फ़कीर अफताब उद्दीन खाँ एक ध्यानी पुरूष थे । वे आध्यात्मिक दुनिया में निवास करते थे, परन्तु संगीत ही उनका ध्यान-ज्ञान था । वे अनेक वाद्यों के कुशल वादक थे । संगीत के शास्त्रीय पक्ष पर ही इनकी शिक्षा सम्पन्न हुई थी । किन्तु परवर्ती में लोक-संगीत के क्षेत्र में मशहूर हुए थे । बांग्लादेश के लोक-संगीत क्षेत्र में उनका नाम विशेष रूप से स्मरणीय है । उल्लेखनीय है कि उन्होंने अपने दो भाई उस्ताद अलाउद्दीन खाँ एवं उस्ताद आयत अली खाँ को संगीत की प्रारम्भिक शिक्षा दी थी ।

परवर्ती में उस्ताद अलाउद्दीन खाँ ने अनेक गुणियों से शिक्षा प्राप्त करके भारत को ही अपना स्थायी निवास क्षेत्र बनाया था, परन्तु बांग्लादेश के साथ उनका सम्बन्ध जीवनभर अटूट रहा । इनके सबसे छोटे भाई उस्ताद आयत अली खाँ ने फ़कीर अफताब उद्दीन खाँ से शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् मैहर में उस्ताद अलाउद्दीन खाँ से शिक्षा ली । तत्पश्चात् संगीत गुरू उस्ताद वजीर खाँ से शिक्षा प्राप्त कर उन्होंने विभिन्न सांगीतिक कार्यक्रमों में भाग लेना आरम्भ किया । सम्पूर्ण भारत में अनेक स्थानों के संगीत सम्मेलनों में वादन प्रस्तुत कर उन्होंने श्रोताओं का मनोरंजन किया एवं एक सुप्रतिष्ठित संगीतज्ञ के रूप में परिचित हो गए । उस्ताद आयत अली खाँ कुछ साल मैहर राज्य के सभावादक रहें, उसके बाद रामपुर राजदरबार में भी सभावादक के पद पर कार्य किया । तत्पश्चात् कविगुरू रवीन्द्रनाथ ठाकुर के कहने पर पश्चिम बंगाल के विश्वभारती, शान्तिनिकेतन में वाद्य शिक्षक के पद पर कार्य आरम्भ किया, परन्तु कुछ साल के बाद ही शारीरिक अस्वस्थता के कारण शान्तिनिकेतन को छोड़कर वह अपने गाँव ब्राह्मणबाड़िया में लौट गए एवं स्थायी रूप से बांग्लादेश में ही निवास

करने लगे । पैतृक भूमि में वापस लौटने के बाद उस्ताद आयत अली खाँ ने जीवन के अन्तिम समय तक संगीत साधना एवं प्रसार में खुद को समर्पित की । अपनी वंश की सांगीतिक ऐतिह्य को जीवित रखने के लिए एवं उसे नए रूप से प्रस्फुटित करने के लिए उन्होंने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई । देश विभाजन के पश्चात् पूर्व बंगाल तथा वर्तमान बांग्लादेश में उस्ताद अलाउद्दीन खाँ परम्परा की वाद्य-संगीत धारा को प्रसारित करने में उस्ताद आयत अली खाँ ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था । वे सितार और सुरबहार के कुशल वादक थे, परन्तु सरोद तथा अन्य वाद्यों के वादन-क्षेत्र की उन्नति पर भी उन्होंने कार्य किया ।

उल्लेखनीय है कि उस्ताद आयत अली खाँ एक उत्कृष्ट वाद्य निर्माता भी थे । उस्ताद अलाउद्दीन खाँ के परामर्श से उन्होंने सरोद वाद्य को आधुनिक रूप प्रदान किया था जो परवर्ती में सर्वजनग्राह्य हुई । उन्होंने अनेक वाद्यों एवं रागों का भी निर्माण किया । विशुद्ध मार्ग-संगीत की साधना एवं प्रसार के उद्देश्य से उन्होंने कुमिल्ला सन् 1948 एवं ब्राह्मणबाड़िया सन् 1954 में 'अलाउद्दीन खाँ म्युजिक कॉलेज' की स्थापना की थी । 2 सितम्बर, सन् 1967 में इस महान संगीतज्ञ का देहावसान हो गया ।

उस्ताद आयत अली खाँ की संगीत साधना का सार्थक रूप उनके योग्य शिष्यों में देखा जाता है । उनके अनेक शिष्यों ने बांग्लादेश के संगीत-क्षेत्र में प्रतिष्ठित होकर वाद्य-संगीत की साधना को जीवित रखा । उनके शिष्यों में उस्ताद अली अहम्मद खाँ (सितार), उस्ताद बहादुर खाँ (सरोद), उस्ताद एरशाद अली खाँ (सितार), उस्ताद खादेम हुसैन खाँ (सितार), उस्ताद आबेद हुसैन खाँ (सितार), कामाल उद्दीन चौधुरी (सरोद), उस्ताद अफजालुर रहमान (सरोद), मोबारक हुसैन खान (सितार, सुरबहार), उस्ताद खुरशीद खान (सितार) आदि उल्लेखनीय हैं । इसके अतिरिक्त सितार और सरोद वादन के क्षेत्र में अब्दुस सामाद (सितार), सत्यजित चक्रबर्ती (सितार), फिरोज खान (सितार), समीर दास (सितार), यासिन खान (सितार), अलिमुर रहमान (सितार), रिनत फौजिया (सितार), एबादुल हक (सितार), मोर्शेद खान (सितार), बिपिन दास (सितार), उस्ताद शाहदत हुसैन खान (सरोद), मोहम्मद युसुफ खान (सरोद), कामाल जहीर शामीम (सरोद) आदि कलाकारों का योगदान प्राप्त होता है । अत: पूर्व बंगाल तथा वर्तमान बांग्लादेश में सितार एवं सरोद का प्रयोग संगीत के शास्त्रीय पक्ष पर ही अधिक देखने को मिलता है । इसके अतिरिक्त संगीत के अन्य पक्ष

जैसे - राग-प्रधान बांग्ला गान, रवीन्द्र संगीत, नज़रूल संगीत, एवं अतुल प्रसाद, द्विजेन्द्रलाल राय, रजनीकान्त सेन आदि कवि-संगीतकारों के गीतों में तथा अन्य सुगम-संगीत में इन वाद्यों का सफल प्रयोग होता है । बंगाली नाटकों के नेपथ्य संगीत एवं वृन्दवादन के क्षेत्र में भी इन वाद्यों का प्रयोग किया जाता है ।

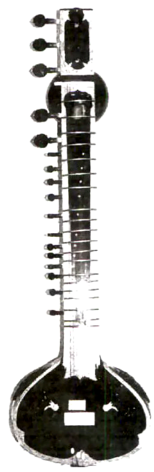

सितार

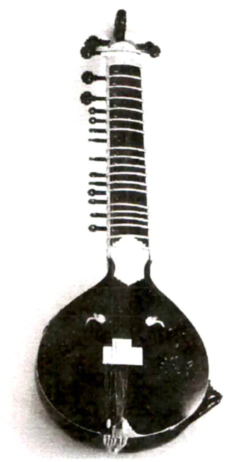

सुर बहार

सरोद

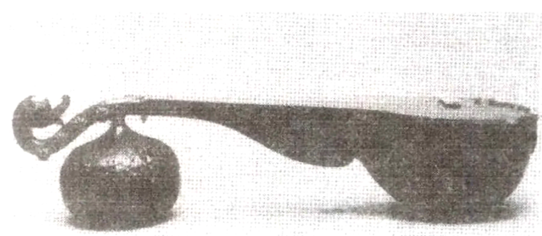

सुर सिंगार

2. गज़ वाद्यों की उत्पत्ति तथा बंगाल में उनका प्रयोग

भारत में प्रहार वाद्यों के साथ गज़ से बजाये जानेवाले वाद्यों का भी सदैव अपना महत्त्व रहा है । गज़वाले वाद्य एकल वादन के साथ संगति एवं वाद्यवृन्द का दायित्त्व भी भलीभाँति निभाते रहे है । गज़वाले वाद्य को 'तत' कहा जाए या 'वितत' इस विषय पर भी मतभेद देखा जाता है । प्राचीन और मध्यकालीन ग्रन्थकारों ने गज़ अर्थात बो अथवा धनुष से बजनेवाले वाद्यों को तत वाद्य के नाम से सम्बोधित किया है । किन्तु 20वीं शताब्दी के कतिपय लेखकों ने गज़ अथवा धनुष से बजनेवाले वाद्यों को 'वितत' संज्ञा प्रदान की है, परन्तु भारतीय संगीत के प्राचीन एवं मध्यकालीन आचार्यों ने अवनद्ध वाद्य को वितत वर्ग के अन्तर्गत उल्लिखित किया है । श्रीपद बन्दोपाध्याय ने प्राचीन काल के चार प्रकार के वाद्य वर्गीकरण को स्वीकार कर यह कहा है कि, "संगीत शास्त्रकारों ने समस्त वाद्य यन्त्रों को उनकी बनावट, उपयोगिता और बजाने की विधि को देखते हुए चार भागों में विभक्त किया है, जिन्हें तत, वितत, घन और सुषिर यन्त्र कहते है । पाश्चात्य पण्डित और वैज्ञानिकों ने मिज़राब, नक्की और जवा से वादित होनेवाले वाद्य यन्त्र को तत यन्त्र कहा है । गज़ व कमानी (बो) से बजाये जानेवाले वाद्य यन्त्र को वितत् की श्रेणी में रखा है" ।[60] डॉ. प्रकाश महाडिक के अनुसार, "गज़वाले तन्त्री वाद्यों को वितत की अपेक्षा 'गज़तत' कहना अधिक उचित प्रतीत होता है । इसलिए उनका यह निवेदन है कि इस वर्ग को गज़तत वाद्य कहना चाहिए" ।[61] इस वर्ग के वाद्यों में शास्त्रीय वादन के लिए व्हायोलिन, सारंगी, इसराज, दिलरूबा आदि वाद्य प्रचलित है। इन वाद्यों में इसराज, सारंगी, दिलरूबा आदि व्हायोलिन प्रवेश के पहले से ही बंगाल में प्रचलित थे । मन्द्रबहार और तारशहनाई नामक दो गज़ वाद्यों का भी उस समय प्रयोग था जो इसराज के ही दो प्रकार है । वर्तमान में इन वाद्यों का प्रयोग देखने को नहीं मिलता है ।

इसराज

उपरोक्त गज़ वाद्यों में 'इसराज' वाद्य के साथ बंगाल के संगीत-जगत का बहुत ही गहरा सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है । यह सम्बन्ध आज भी बरकरार है । व्हायोलिन की उपस्थिति के पहले से बंगाल के धनाढ्य तथा सुसंस्कृत परिवारों में इस वाद्य का अभ्यास किया जाता रहा । उसकाल में स्त्रीयाँ इसराज का वादन ज्यादा करती थीं ।

इसराज की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों का कहना है कि इसराज का यही राज है कि यह कब बना, कहाँ बना और किसने बनाया? यह कोई नहीं जानता, तथापि इसके आविष्कार विषयक कुछ मत अवश्य मिलते हैं ।

इसराज का उत्पत्तिकाल 150 साल के आस-पास होगा ऐसा माना जाता है । "कुछ गुणियों की मान्यता यह है कि काशी धाम के संगीत-प्रेमी नबीबक्श (सारंगी वादक) ने इस वाद्य का आविष्कार किया तथा कुछ लोग काशी धाम के संगीत साधक ईश्वरीप्रसाद जी को इसका आविष्कारक मानते हैं । उनका कहना, ईश्वरीप्रसाद जी को लोग 'ईश्वरी महाराज' तथा 'ईश्वरी राज' नाम से पुकारते थे एवं यही 'ईश्वरी राज' नाम से ही उनके सृष्ट वाद्य का नाम 'इसराज' रखा गया"।[62] "यह भी कहा जाता है कि ईश्वरीप्रसाद जी के शिष्यों बिहारी जी एवं लक्ष्मण दास जी ने इसराज वाद्य का आविष्कार किया एवं अपने गुरू के नाम पर वाद्य का नाम दिया"।[63] "अनेक मुसलमान उस्ताद मानते हैं कि 'इसराज' अरबी शब्द है और यह वाद्य अरब से भारत में आया"।[64] "डॉ. अमियनाथ सान्याल ने इसराज को भारतीय वाद्य बताकर 'पिनाक वीणा' को वर्तमान इसराज का प्राचीन रूप कहा है"।[65] New oxfod History of Music नामक ग्रन्थ में लिखा है कि, "The Dilruba and Esraj are of Persian origin".[66] परन्तु साइक्लोपीडिया ऑव़ म्युज़िक एण्ड म्युज़िशियन में स्पष्ट रूप से लिखा गया है कि यह भारतीय वाद्य है।[67]

इस विषय पर श्री लक्ष्मीनारायण घोष कहते हैं कि, "अरब के विख्यात प्राचीन ग्रन्थकार हुसैन इब्न जाईला के 'किताब-अल-काफीफिल म्युजिकि' नामक प्रामाणिक ग्रन्थ में जिन वाद्यों का नाम मिलता है उनमें इसराज नामक कोई वाद्य का उल्लेख नहीं है । और अगर इस वाद्य का उद्‌भव फ़ारस में हुआ होता और वहाँ से भारत आया होता तो किसी न किसी फ़ारसी और अरबी शब्दकोश में 'एस्राज', 'एसराज' अथवा 'इसराज' इस प्रकार का कोई न कोई शब्द अवश्य मिलता। परन्तु यथा सम्भव खोज बीन करके भी इस प्रकार का कोई शब्द प्राप्त नहीं हुआ, परन्तु 'इसरार' नामक एक शब्द का उल्लेख मिलता है जिसका अर्थ है रहस्य"।[68]

ग्रन्थकार ओ. गोस्वामी के अनुसार इसराज की उत्पत्ति मुस्लिम काल में हुई है । उनका मत यह है कि, "Esraj and Dilruba are both muslim innovations from Sarangi. During the muslim rule when the women in the harem took to singing, they could not accompanied by the Sarangi players who were mostly men. Women could not take to the Sarangi as it was not only a difficult instrument but also spoilt the beauty of the nails. So, the upper portion of the Sarangi was lenthened to some extent and frets were fixed on it numbering 15 to 17 according to their size".[69] अतः उन्होंने इसराज की उत्पत्ति का आधार सारंगी ही माना है, परन्तु प्राचीन काल से मध्यकाल के 18वीं शताब्दी तक के संस्कृत, उर्दू, हिन्दी एवं अंग्रेज़ी भाषाओं के ग्रन्थों में इस वाद्य का उल्लेख नहीं मिलता है । उस समय तक भारत में कहीं भी इसराज का प्रचलन होता तो विभिन्न ग्रन्थकारों द्वारा अन्य वाद्य के समान इसका भी वर्णन अवश्य किया जाता । "सन् 1854 में मुहम्मद करम इमाम द्वारा रचित ग्रन्थ 'मआदनुल मौसीकी' में अनेक वाद्यों का वर्णन किया गया है, किन्तु इसराज व दिलरूबा का नहीं । लेकिन श्री एस. एम. ठाकुर द्वारा सन् 1875 में रचित 'यन्त्रकोश' नामक ग्रन्थ में इसका वर्णन उपलब्ध होता है" ।[70]

अतः इन ग्रन्थों के आधार पर हम कह सकते हैं कि 19वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक इसकी उत्पत्ति नहीं हुई थी, किन्तु सन् 1854-1875 के बीच अर्थात् 19वीं सदी के मध्यान्ह में इस वाद्य की उत्पत्ति अवश्य हुई होगी । उसकाल में कोठियों में बाईजी नर्तकियों के साथ संगति वाद्य के रूप में सारंगी का प्रयोग किए जाने के कारण समाज में इस वाद्य का तथा वादकों का सम्मान कम था। इसलिए सभ्य समाज को अपने लिए एक नया सुविधाजनक गज़ वाद्य की आवश्यकता हुई, जिसमें वह एकल वादन तथा संगति भी सरल और सुन्दर रूप से प्रस्तुत कर सके और इसी आवश्यकता के कारण 'इसराज' वाद्य की सृष्टि की गई ।

इसराज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में डॉ. लालमणि मिश्र ने अपने ग्रन्थ 'भारतीय संगीत वाद्य' में लिखा है कि, "इसकी परिकल्पना के पीछे एक विशेष समय की विशेष मांग छिपी है । गज़ से बजनेवाले वाद्य में इसराज की उत्पत्ति के पहले सारंगी प्रमुख था, जिसका वादन पेशेवर संगीतज्ञ ही करते थे। गज़ के अन्य वाद्य रावणहत्था, सारिन्दा और चिकारा आदि लोक वाद्य थे। इसलिए सभ्य समाज को अपने लिए गज़ का एक नया सुविधाजनक वाद्य निर्माण करना था, जिसे उसने इसराज बनाकर किया" ।[71] इन्होंने भी इस वाद्य की उत्पत्ति का आधार सारंगी माना है ।

इसराज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सर एस. एम. ठाकुर का यह कथन है कि, "सारंगी और सितार के मिश्रण से इसराज की उत्पत्ति हुई है"।[72] श्री बिमलाकान्त राय चौधुरी के अनुसार, "सितार की दाण्ड पर सारिन्दा के समान खोल मढ़कर इस वाद्य का उद्‌भव हुआ"।[73] इस विषय पर डॉ. प्रकाश महाडिक कहते है, "यद्यपि यह सही है कि इसकी दाण्ड सितार के समान होती है, किन्तु नीचे की कुण्डी सारंगी के समान न होकर सारिन्दा (लोक-वाद्य) के समान है। अतः इसे सितार और सारिन्दा का मिश्रण कहना अधिक न्यायोचित होगा"।[74]

अन्य वाद्यों के स्वरूप में इसे देखने का प्रयास करें तो वह "ताऊस" (यह फ़ारसी शब्द है जिसका अर्थ मयूर है) नामक एक वाद्य है, जो इसराज से बहुत कुछ मिलता है। ताऊस का वर्णन पी. टी. फ्रेंच और मुहम्मद करम इमाम दोनों ग्रन्थकारों ने किया है। ताऊस का दाण्ड इसराज के समान ही होता है केवल नीचे के भाग में मोर की आकृति बना दी जाती है। इसलिए कुछ लोग इसे 'मयूर वीणा' भी कहते हैं । अत: यह सम्भव है कि ताऊस के नीचले हिस्से में मोर की आकृति के कारण वादन में असुविधा हुई हो, और किसी ने उस नीचेवाले भाग को मयूर का आकार न देकर साधारण आकार दिया हो और उसी परिवर्तन के कारण नाम भी बदल दिया हो। अनेक मुसलमान उस्ताद कहते है कि 'इसराज' यह शब्द 'आयेन-सिन्-रे आयेन जिम' शब्द से उत्पन्न हुआ जिसका अर्थ है रोशनाई पैदा करना। उनका कहना है कि इसकी सुरीला आवाज़ मन को आलोकित करती है इसलिए इसे इसराज कहा गया । अनेक गुणियों की धारणा है उर्दू शब्द 'सिराज' से इसराज शब्द की उत्पत्ति हुई । सिराज शब्द का अर्थ द्वीप होता है । बांग्ला भाषा में 'इसराज' को 'एसराज' कहा जाता है । बंगाल के विख्यात संगीत गुणी स्व. क्षेत्रमोहन गोस्वामी जी ने इसराज का नाम 'आशुरंजनी' रखा है, जिसका अर्थ जल्द ही मनोरंजन करना अर्थात् इस वाद्य की मधुर आवाज़ बहुत ही जल्द मन को रंजित करती है । उन्होंने 'आशुरंजनी तत्त्व' नामक एक ग्रन्थ की भी रचना की है। उस ग्रन्थ में इसराज का और एक नाम 'एसराज' कहा गया । विष्णुपुर घरानें के संगीताचार्य स्व. रामप्रसन्न बैनर्जी ने भी 'एसरार तरंग' नामक ग्रन्थ की रचना की। उसी घराने के वादक कलाकार श्री सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ने भी इस शब्द प्रयोग द्वारा 'एसरार मुकुल' नामक ग्रन्थ की रचना की है। विष्णुपुर घराने के प्राचीन ग्रन्थ में 'एस' का अर्थ मीठा और 'रार' का अर्थ ध्वनि अर्थात आवाज़ लिखा हुआ है । अत: एसरार का अर्थ यह निकलता है कि यह एक मिठी तथा सुरीली आवाज़वाले वाद्य है ।

इस प्रकार इसराज की उत्पत्ति तथा अर्थ के विषय में विभिन्न प्रकार के मतभेद उपलब्ध होते है । जो कुछ भी हो इस वाद्य के प्रयोग के बारे में कहा जाए तो बंगाल में इसका अधिक प्रयोग दृष्टिगोचर होता है । इसराज के प्रयोगात्मक विषय में H. A. popley का कहना है कि, "The Esraj is the Bengal variety of Sarangi. This is the common instrument that one finds in the house of cultured people of Bengal".[75]

बंगाल के विख्यात सांगीतिक स्थान विष्णुपुर में इसराज का प्रचलन अधिक था । विष्णुपुर घराने के कुछ गुणियों के द्वारा इस वाद्य का प्रचार पूरे बंगाल में हुआ । गया के कुछ प्रसिद्ध इसराज वादकों ने भी बंगाल में इसके प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है ।

इसराज के कुछ महत्त्वपूर्ण घराने है । जैसे :-

1. प्रथम बनारस घराना (प्रतिष्ठाता नबीबक्श, सारंगी वादक)
2. द्वितीय बनारस घराना (यह घराना पंजाब के ईश्वरीप्रसाद से आरम्भ हुआ)
3. गया घराना (हनुमान दास सिंह इस घराने के प्रवर्तक)
4. करामत कौकभ खाँ घराना (इसराज घराना के प्रतिष्ठाता स्व. कालीदास पाल)
5. इमदाद खानी घराना (सितारिये इमदाद खाँ इस घराने के प्रवर्तक)
6. विष्णुपुर घराना (यह घराना रामशंकर भट्टाचार्य से आरम्भ हुआ)

उपरोक्त घरानों में विष्णुपुर बंगाल का अपना घराना है । बाकी सभी घरानों के साथ बंगाल का गहरा सम्बन्ध रहा है । क्योंकि बंगाल में इस वाद्य के प्रचार-प्रसार में उन घरानों के वादक कलाकारों का महत्त्वपूर्ण योगदान प्राप्त होता है ।

करामत कौकभ खाँ घराने के प्रसिद्ध कलाकार कालीदास पाल के द्वारा बंगाल में अनेक इसराज वादक हुए । उनमें देवीप्रसाद मुखर्जी का नाम उल्लेखनीय है । गया घराने के प्रवर्तक हनुमान दास सिंह के शिष्य कानाईलाल ढेँड़ी तथा उनके शिष्य हाबूदत्त (स्वामी विवेकानन्द के भाई) के प्रयास से बंगाल में कानाईलाल ढेँड़ी के इसराज का बाज आरम्भ हुआ था, परन्तु हाबूदत्त के पुत्र शरत्‌दत्त (नन्तु बाबू) के साथ ही यह बाज समाप्त हो गया। हाबूदत्त ने रामपुर घराने के वज़ीर खाँ की शैली को भी अपनाया था। इस घराने के अन्य प्रसिद्ध इसराज वादकों में धीरेन्द्रनाथ मित्र, शीतल मुखर्जी, योगीन डॉक्टर (भेलु बाबू), आचार्य ब्रजेन्द्रकिशोर राय चौधुरी, सुरेशचन्द्र चक्रबर्ती उल्लेखनीय है ।

बंगाल में इसराज वादन के क्षेत्र में इमदाद खाँ घराने का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। उस्ताद इमदाद खाँ, सितारिये जरूर थे, परन्तु इसराज में ठुमरी का वादन बहुत ही उत्कृष्टता से करते थे । इनके शिष्यों में डॉ. प्रकाशचन्द्र सेन, आचार्य ब्रजेन्द्रकिशोर राय चौधुरी एवं श्रीनिवास आदि हुए, जिनके द्वारा बंगाल में इसराज वादन का अधिक प्रचार-प्रसार हुआ। उल्लेखनीय है कि गौरीपुर के महाराजा आचार्य ब्रजेन्द्रकिशोर राय चौधुरी एक उँचे स्तर के संगीत मर्मज्ञ थे जिन्होंने भारत के अनेक महान गुणियों से शिक्षा प्राप्त करके अपने सांगीतिक ज्ञान भण्डार को समृद्ध किया तथा संगीत शास्त्र के अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों का संग्रह कर बंगाल तथा भारत की सांगीतिक उन्नति में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया । वर्तमान में अनेक इसराज वादक ही इमदाद खानी बाज़ से अपना वादन करते है, परन्तु उनमें अन्य घरानों की विशेषताएँ भी रहती है ।

विष्णुपुर में रामशंकर भट्टाचार्य से इसराज का घराना आरम्भ होता है । तत्पश्चात् अनेक शिष्य अनन्तलाल बैनर्जी, रामप्रसन्न बैनर्जी (अनन्तलाल के पुत्र) एवं सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी आदि गुणियों ने इसराज की एक नई वादन शैली को विकसित किया। परवर्ती में इस घराने के वाहक कलाकारों के रूप में श्री अशेष बैनर्जी एवं उनके शिष्य रणधीर राय का नाम लिया जाता है। उपरोक्त कलाकारों के अतिरिक्त उसकाल में और भी अनेक प्रसिद्ध इसराज वादक हुए। उनमें विष्णुपद भट्टाचार्य (बरिशाल, बांग्लादेश), बीरेन मुखर्जी, संगीत सम्राज्ञी यादुमणि आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।

यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है कि कोलकाता के विख्यात जोड़ासाँको ठाकुर परिवार में शुरू से ही इस वाद्य का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा । उस परिवार का हर व्यक्ति इसराज वादन का अभ्यास करना पसन्द करता था तथा उनमें कई-कई प्रसिद्ध वादक भी थे। ठाकुर परिवार के ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर एवं कविगुरू रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि का नाम इस क्षेत्र में उल्लेखनीय है । उस समय रवीन्द्र संगीत के साथ संगति वाद्य के रूप में इसराज का प्रयोग अनिवार्य वाद्य के रूप में किया जाता था, जो प्रयोग वर्तमान समय में भी बरकरार है ।

परवर्ती में अनेक कलाकारों ने इस वाद्य को अपनाया तथा बंगाल में इस के प्रयोग क्षेत्र में विशेष योगदान दिया । जिनमें दक्षिणामोहन ठाकुर, सत्यकिंकर बैनर्जी, गोपीनाथ

भट्टाचार्य, निमाई मल्लिक, शान्तिरंजन भट्टाचार्य, जहरपाल, सुनील भट्टाचार्य, अपुर्व मुखर्जी, शिवनाथ दास, केया मित्र, बिजली कुमार सेन, राधारानी कुण्डु, समर चटर्जी, पार्वती चटर्जी, शंकर साहा, सतीश दास आदि उल्लेखनीय है । प्रख्यात विज्ञानी तथा जातीय प्राध्यापक श्री सत्येन बसु जी इसराज की मीठी आवाज़ को बहुत पसन्द करते थे तथा वे खुद इस वाद्य का वादन भी करते थे ।

19वीं सदी के अन्त से लेकर 20वीं सदी के उत्तरार्ध तक इस वाद्य पर शास्त्रीय एकल वादन तथा गत्-तोड़ा आदि बजाया जाता था । बंगाल के धनाढ्य अभिजात परिवारों के लोग इसका एकल वादन ही पसन्द करते थे तथा कण्ठ-संगीत के साथ संगत करने से दूर रहते थे और कुछ वादक संगति के लिए हारमोनियम के स्थान पर इसराज का प्रयोग ही ज्यादा पसन्द करते थे । परन्तु समय के साथ-साथ इस वाद्य का प्रयोग कम होने लगा है। इसका कारण यह है कि योग्य निर्माता के अभाव, अभ्यास की कमी तथा मौसम के बदलाव के कारण कुण्डी पर लगे हुए चर्म में परिवर्तन आना । आज-कल गम्भीर तथा मधुर आवाज़वाले वाद्य का निर्माण कम होने लगा है ।

इस वाद्य पर भारतीय संगीत की विशेषताओं को अर्जित करने के लिए कठिन अभ्यास की आवश्यकता होती है । मौसम के बदलाव के कारण आवाज़ नष्ट हो जाने पर वाद्य की असली आवाज़ वापस लाने के लिए लम्बी प्रतिक्षा तथा धैर्य की जरूरत होती है । इन्हीं कारणों की वजह से आज-कल इस वाद्य की ओर लोगों का आकर्षण कम होने लगा । इतनी समस्याएँ रहते हुए भी इसराज वाद्य के साथ शुरू से ही बंगाल के संगीत-जगत का अटूट सम्बन्ध रहा है ।

वर्तमान में इसराज का प्रयोग संगति वाद्य के रूप में तथा वृन्दवादन में अधिक दृष्टिगोचर होता है । कुछ कलाकार एकल वादन भी करते है । पंचों कवियों (रवीन्द्र संगीत, नजरूल संगीत, अतुलप्रसाद के गीत, द्विजेन्द्रलाल राय के गीत, एवं रजनीकान्त के गीत) के गीतों में बांग्ला टप्पा एवं राग-प्रधान गीतों के साथ इस वाद्य का महत्त्वपूर्ण प्रयोग दिखाई देता है । पंचों कवियों में से कविगुरू रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीतों में इसराज का प्रयोग विशेष रूप से किया जाता है । रवीन्द्र संगीत की कोमल मीठे सुरों के साथ इस वाद्य की मधुर मृदु आवाज़ मन में एक आकर्षण पैदा करती है । रवीन्द्र संगीत के साथ संगति तथा इसराज पर यह

संगीत का वादन करने के लिए वादकों को शास्त्रीय संगीत का ज्ञान होना आवश्यक है क्योंकि उसमें ऐसी कुछ विशेषताएँ है जिन्हें प्राप्त करने के लिए शास्त्रीय संगीत के कठिन अभ्यास की ज़रूरत होती है ।

बंगाल की नाट्यकला के विभिन्न प्रकार, जैसे - गीतिनाट्य, नृत्यनाट्य, मंचनाटक, टेलीविज़न भी नाटक तथा फ़िल्मों के पार्श्व-संगीत आदि में भी इस वाद्य का प्रयोग किया जाता है। बंगाल के संगीत महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालयों में भी इसराज वादन की शिक्षा दी जाती है। इस प्रसंग में विश्वभारती विश्वविद्यालय (शान्तिनिकेतन) का नाम लिया जाता है। अन्त में हम यह कह सकते हैं कि इसराज की उत्पत्ति जहाँ भी हो, परन्तु इसका महत्त्वपूर्ण प्रयोग बंगाल में ही अधिक देखने को मिलता है ।

मन्द्रबहार

यह वाद्य इसराज का ही दूसरा रूप है, परन्तु आकार में काफी बड़ा है । शास्त्रीय वृन्दवादन में प्रयोग करने के लिए स्व. क्षेत्रमोहन गोस्वामी जी ने सर्वप्रथम इस वाद्य का निर्माण कराया था । यह वाद्य आकार में बड़ा होने के कारण इसे खुर्सी पर बैठकर व्हायोलिन, सेलो की तरह बजाया जाता था । S. Krishnaswamy ने अपने ग्रन्थ "Musical Instruments of India" Page-59 में लिखा है कि, "The Mandra Bahar is very similar to the Esraj but the finger board and the body are much bigger". इस वाद्य को 'ताज' या 'सुरभाष' भी कहा जाता है । सर सौरीन्द्रमोहन ठाकुर ने अपने ग्रन्थ 'यन्त्रकोष' में इसे 'खादेश्वरी नादेश्वर' बताया है । कोलकाता संग्रहालय में यह वाद्य 'नादतरंग' नाम से संरक्षित है । आज-कल यह वाद्य प्रचलन में नहीं है ।

तार शहनाई

आज से लगभग 60-70 साल पहले इसराज वाद्य में ग्रामोफ़ोन की ध्वनिपेढी तथा ध्वनिवर्द्धक यन्त्र लगाकर 'तार शहनाई' नामक वाद्य का निर्माण किया गया था । आकाशवाणी कोलकाता के नियमित कलाकार स्व. सुरेन्द्रनाथ दास जी ने कोलकाता के विख्यात वाद्य निर्माता स्व. नगेन्द्रनाथ मण्डल (N. N. MANDAL) के द्वारा इस वाद्य का निर्माण कराया था।

श्री सुरेन्द्रनाथ दास जी ने भारतीय वृन्दवादन में इस वाद्य को सर्वप्रथम प्रयोग किया। वृन्दवादन के लिए ही यह वाद्य उपयुक्त था । एकल वादन में इसका स्थान नहीं था । वर्तमान में यह वाद्य का प्रयोग नहीं के बराबर है ।

दिलरूबा

नाम से ही ऐसा लगता है कि यह वाद्य मुगल काल का है, परन्तु मुगलकालीन वाद्यों में इस प्रकार के किसी वाद्य का वर्णन विद्वानों ने नहीं किया । इसराज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जिस प्रकार के वर्णन ग्रन्थकारों ने किया है, उसी के आधार पर उन्होंने दिलरूबा की उत्पत्ति भी मानी है। विद्वानों ने इस वाद्य का उत्पत्ति काल 19वीं शताब्दी के अन्त को अनुमान किया है । डॉ. प्रकाश महाडिक के 'भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य' के अनुसार, "19वीं शताब्दी के अन्त में सुरबहार का प्रयोग बहुत था । सुरबहार की गम्भीर ध्वनि सुनने के लोग आदी हो गए थे । जब लोगों ने इसराज को सुना अथवा बजाने का प्रयास किया होगा, तो उन्हें स्वर निकालने की तकनीक आदि तो पसन्द आई होगी, किन्तु इसराज की मृदु ध्वनि उन्हें प्रभावशाली नहीं लगी होगी । अतः यह सम्भव है कि वादन तकनीक तो वही किन्तु ध्वनि की गम्भीरता बढ़ाने के लिए इसराज में जो परिवर्तन किए उसके फलस्वरूप दिलरूबा वाद्य की उत्पत्ति हुई हो" ।[76]

उत्पत्ति का कारण जो भी हो, परन्तु यह सत्य है कि दिलरूबा वाद्य सितार और सारंगी का मिश्रित रूप है । 19वीं सदी तक इस वाद्य के बारे में कोई ऐतिहासिक जानकारी नही मिलती है, परन्तु 1921 में प्रकाशित H. A. POPLEY के ग्रन्थ - 'The Music of India' में इस वाद्य का विस्तृत वर्णन है । इस आधार पर यह स्पष्ट है कि दिलरूबा वाद्य 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही निर्मित हुआ, किन्तु इसराज के समान इस वाद्य के निर्माता के बारे में भी कोई जानकारी नहीं प्राप्त होती है ।

दिलरूबा के प्रयोगात्मक विषय में H. A. POPLEY ने अपने ग्रन्थ 'The Music of India' में लिखा है कि, 'It is used in the Punjab and in the United Provinces'. अनुमान किया जाता है कि यह वाद्य पंजाब से आया है ।

'दिलरूबा' उर्दू शब्द है, जिसका अर्थ है उच्च स्थान पर हृदय की स्थापना करना । बांग्ला भाषा में इसे 'मनरंजनी' कहा जाता है । वर्तमान में इस वाद्य का निर्माण एवं प्रयोग मुम्बई में ही ज्यादा दृष्टिगोचर होता है । मध्य प्रदेश एवं उत्तर प्रदेश में भी इसका प्रयोग देखने को मिलता है । बंगाल में इस वाद्य का ज्यादा प्रचलन नहीं है, परन्तु शास्त्रीय, उपशास्त्रीय तथा संगीत के अन्य क्षेत्रों में इस वाद्य का अल्प प्रयोग देखा जाता है ।

दिलरूबा एक सुन्दर, मधुर और आकर्षक वाद्य है, किन्तु दुःख की बात है कि इसका प्रचलन आज कम होता जा रहा है । अब इसे दुर्लभ वाद्यों के श्रेणी में रखा जाता है ।

सारंगी

सारंगी भारतीय संगीत में एक बहुत ही लोकप्रिय एवं मधुर वाद्य है । गायन की संगति के लिए यह साज़ सबसे अधिक उपयोगी माना गया है । आज भी इस वाद्य की लोकप्रियता बराबर बनी हुई है ।

सारंगी के उद्भव के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है । प्राचीन काल में समस्त तन्त्र वाद्यों को 'वीणा' ही कहा जाता था । अतः विशेष रूपेण सारंगी का उल्लेख करते हुए प्राचीन ग्रन्थों में विवरण नहीं दिये गए हैं । सारिका रहित तथा धनुषाकार गज़ से बजाये जानेवाले वाद्यों को सारंगी का ही पर्याय माना जा सकता है, उनके नाम जो भी दिये गए हो । सारंगी के तीन प्रमुख तत्त्वों, सारिका विहीन दण्ड, कमान से वादन तथा दण्ड वीणा की भाँति गोद में सीधा रखकर बजाने की शैली समन्वित प्राचीनकालीन वाद्यों को सारंगी का पूर्वज माना जा सकता है और इन वाद्यों से सारंगी का पूर्वाभास मिलता है ।

सारंगी के आविष्कर्ता और नाम के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित है । इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वाज़िद अली शाह के दरबार में सारंग खान नामक वादक ने सारंगी को प्रचलित स्वरूप प्रदान किया इसलिए इसे सारंगी कहा जाने लगा । कुछ विद्वान इस वाद्य के निर्माण के श्रेय मियाँ कल्लु खाँ को देते है । "मआदनुल मौसिक़ी के रचनाकार हकीम मोहम्मद करम इमाम के मतानुसार इसके आविष्कारक हकीम बकरात गौ है" ।[77] कुछ लोगों का ऐसा भी विचार है कि, "भारत में प्रचलित कमान से बजाई जानेवाली वीणा बनावट

में लंका की घुमक्कड़ जातियों द्वारा बजाये जानेवाले 'बीन वाह' से इतनी मिलती-जुलती थी कि भारत की वीणा को सीधे लंकाधिपति रावण के नाम से जोड़ दिया और विद्वान वीणा को रावणास्त्र अथवा रावण हस्त वीणा कहने लगे" ।[78] यह रावणास्त्र सारंगी से इतना अधिक मिलता-जुलता है कि सारंगी का प्रादूर्भाव ही रावण हस्त अथवा रावणास्त्र वीणा से माना जाता है । कुछ विद्वानों का मत यह है कि प्रख्यात संगीत मनीषी अमीर खुसरो ने इस वाद्य में काफी सुधार किया । उन्होंने प्राचीन साजरंग को तोड़कर सारंगी बनाई । "इस प्रकार सारंगी के निर्माता के रूप में अमीर खुसरो, सारंग खान, मियाँ कल्लु खाँ, हकीम बकरात गौ तथा रावण आदि के नाम लिए जाते है" ।[79]

सारंगी के गज़ का आकार धनुष के समान होता है और धनुष को सारंग भी कहा जाता है ; इसलिए यह भी सम्भव है कि धनुष से बजाये जाने के कारण इसका नाम सारंगी पड़ा हो। प्रसिद्ध सारंगी वादक पं. रामनारायण के अनुसार, "एक जमाने में सारंगी को 'सौरंगी' कहते थे और 'सौरंगी' से बिगड़कर इसका नाम सारंगी प्रचलित हो गया" ।[80]

कुछ विद्वानों के अनुसार सारंगी का जन्म मुगल काल में हुआ होगा क्योंकि प्राचीन इतिहास में सारंगी का कोई उल्लेख नहीं मिलता । स्वामी हरिदासकालीन संगीत की व्याख्या करते हुए आचार्य कैलाशचन्द्र देव बृहस्पति ने लिखा है कि, "गाने के साथ वीणाओं का प्रयोग होता था जिनमें किन्नरी प्रमुख थी । सारंगी के प्रचार उस युग में नहीं था । यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि अबुल फज़ल ने भी सारंगी अथवा सारंगी वादकों की कोई चर्चा नहीं की है" ।[81] इससे यह प्रतीत होता है कि अकबर के समय तक सारंगी का प्रचलन नहीं था, लेकिन वस्तु स्थिति ठीक इसके विपरीत है । राणा कुम्भा कृत 'संगीत राज' के अतिरिक्त शारंगदेव कृत 'संगीत रत्नाकर' में भी सारंगी का उल्लेख मिलता है ।

मध्यकालीन ग्रन्थों में सारंगी का उल्लेख भिन्न-भिन्न नामों से पाया जाता है । 13वीं शताब्दी के 'संगीत रत्नाकर' से शारंगदेव के समय में सारंगी का प्रचलन स्पष्ट होता है । यह बात अलग है कि उस समय तक शास्त्रीय संगीत में मान्यता प्राप्त वाद्यों की भाँति सारंगी को प्रतिष्ठा प्राप्त न हो सकी हो, परन्तु इतना तो सुनिश्चित है कि 13वीं शताब्दी तक संगीत एवं संगीत शास्त्र के विद्वान सारंगी से सुपरिचित हो चुके थे । अन्य समकालीन ग्रन्थों में भी सारंगी का स्पष्ट उल्लेख मिलता है ।

अतः हम कह सकते है कि 13वीं शताब्दी तक अन्य रूप से इसका प्रचार-प्रसार होने लगा था । एवं 15वीं शताब्दी तक यह प्रचलित हो गई थी । कालक्रम की दृष्टि से वैदिक काल के पश्चात् विपंची तथा चित्रा और मतंग से शारंगदेव के समय तक किन्नरी, एकतन्त्री आदि वीणा की प्रधानता मिलती है । अन्य प्रकार की वीणाओं का भी प्रचलन मिलता है, परन्तु गौण रूप में इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि शारंगदेव के काल तक प्रचलित वीणाएँ प्रायः नख अथवा कोण से बजाई जाती थीं । 13वीं से 19वीं शताब्दी के बीच रूद्रवीणा, रबाब, स्वर मण्डल आदि के अलावा गज़ से बजाये जानेवाले अनेक वाद्य सामने आते है, जैसे - पिनाकी, रावणास्त्र, सारंगी आदि एवं गत सौ वर्षो की अवधि में सितार, सरोद के साथ सारंगी ने भी शास्त्रीय संगीत के तन्त्री वाद्यों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लिया है ।

"फ़कीरूल्लाह ने रागदर्पण (1671) में सारंगी वादक अल्लाहदाद ढारी को जलन्धर के आस-पास रहनेवाला बताते हुए उनके सारंगी वादन की सराहना की है। इस प्रकार प्रथम सारंगी वादक के रूप में हमें अल्लाहदाद ढारी का नाम मिलता है, जिनकी मृत्यु सन् 1665 में हुई थी। मोहम्मदशाह रंगीले (सन् 1719-1748) के समय में प्रसिद्ध कलाकारों में सारंगी वादक गुलाम मोहम्मद की चर्चा दरगाह कुली खाँ ने की है"।[82] "मआदनुल मौसीक़ी (सन् 1854) में दिल्ली के अलीबख्श लखनऊ के हसनबख्श तथा ग्वालियर के सादिक अली कौम ढारी को अच्छा सारंगी वादक बताया है। बान्दा के इब्राहीम खाँ, पुत्र मुहम्मद अली डेरेदार बहुत अच्छी सारंगी बजाते थे। मोहम्मद अली टप्पे की शैली में बाबू रामसहाय के शिष्य थे। हिम्मत खाँ कलावन्त निवासी राठ पतवारी हसनबख्श के शिष्य सारंगी वादन में प्रवीण थे। जहुर खाँ कलावन्त तथा लखनऊ के हसन खाँ ढारी के हाथ धुन बजाने में बहुत खुबसूरत थे। अमीर खाँ बीनकार के शिष्य, खुरजा शिकारपुर के ख्वाज़ा बख्शी ढारी सारंगी बहुत सुन्दर तथा शुद्ध रागदारी के साथ बजाते थे। इनके अतिरिक्त मोहम्मद करम इमाम ने बनारस के कल्लों व धन्नों ढारी को श्रेष्ठ सारंगी वादक तथा जतन कत्थक को चमत्कारी सारंगी वादक बताया है"।[83]

"श्रीमन्त नानासाहब पेशवा के यहाँ सन् 1755 में रमजानी एवं रजाअली सारंगी वादक रहे। देवीदास सारंगिया संगत करने में कुशल थे, जो श्रीमन्त दूसरे बाजीराव साहब पेशवा के यहाँ कार्यरत थे। जयपुर के सवाई प्रतापसिंह के दरबार में गोखी बाई के साथ कालू सारंगी

वादक भी थे। मुम्बई के गोविन्दराम सारंगिए उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कुशल सारंगी वादक हुए। महाराष्ट्र में बाबूराव कुमठेकर का नाम भी उत्कृष्ट सारंगी वादकों में लिया जाता है"।[84] अतः देखा जाता है कि 17वीं सदी के उत्तरार्ध से विभिन्न समय में अनेक सारंगी वादक हुए, परन्तु यह सम्भव है कि उस काल में श्रेष्ठ वाद्यों की तुलना में इसे सम्मान प्राप्त न रहा हो, परन्तु अपनी विशेषताओं के कारण संगीत-क्षेत्र में इसमे क्रमशः अपना महत्त्व स्थापित कर लिया है।

भारत के लोक-वाद्यों पर दृष्टिपात करें तो राजस्थान का सारिन्दा, कमायचा, मध्यप्रदेश का चिकारा, बिहार का बनाम आदि सब वाद्य सारंगी के पूर्व रूप कहे जा सकते हैं। फारस का 'कामांचा' और भारत के 'कमायचा' के नामों में भी बहुत समानता दिखाई देती है। भारत की लोक परम्पराओं में प्रचलित सिन्धी सारंगी, जोगिया सारंगी, अलाबु सारंगी, थानी सारंगी, गुजरातन सारंगी आदि सभी सारंगियों के विवरणों से स्पष्ट है कि आकार-प्रकार, बनावट और तारों की संख्या में बहुत कुछ समानता है। ये सभी सारंगियाँ गज़ से ही बजाई जाती हैं तथा इनकी वादन तकनीक भी लगभग एक समान ही है। विशेष अंचल में तथा विशेष जाति के लोगों द्वारा इसे प्रयोग किए जाने के कारण सारंगी के साथ उनका नाम भी जुड़ गया। इसकी व्यापक लोकप्रियता के कारण तथा भारतीय संगीत के मूल तत्त्वों को प्रकट करने के सब लक्षण विद्यमान होने के कारण शास्त्रीय संगीत के गुणियों ने इसे भारतीय शास्त्रीय संगीत में अपना लिया है। परन्तु शताब्दियों से व्यापक प्रचलन की अपेक्षा शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में मान्यता प्राप्त प्रयोग की दृष्टि से सारंगी वाद्य अन्य वाद्य की तुलना में नया माना जाता है। असीमित क्षमता, विस्तृत कल्पना क्षेत्र तथा अद्वितीय माधुर्य के कारण शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में सारंगी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है यह सच है, परन्तु सारंगी वादन के घरानों का इतिहास अधिक प्राचीन नहीं है। घरानों की दृष्टि से सारंगी वादकों के घरानों की संख्या सीमित है। दिल्ली तथा सोनपत में सारंगी वादकों की परम्परा मिलती है। जीविका के कारण इस घराने के अनेक सारंगी वादक कोलकाता, दरभंगा चले गए। कुछ पटियाला अम्बाला चले गए। रामपुर दरबार संगीतज्ञों का गढ़ अवश्य था, परन्तु दरबार में देश के विभिन्न भागों से संगीतज्ञ आकर रहते थे। रामपुर दरबार में गायकी तथा बीनकार अंग की प्रधानता थी। कतिपय बीनकारों ने अपने परिवार में सारंगी वादन आरम्भ किया। जन-सामान्य शास्त्रीय संगीत से लगभग दूर था। विभिन्न प्रचार माध्यम तथा साधनों के

अभाव में मुख्यतः रियासतों का संरक्षण ही संगीतज्ञों का आश्रय था। सरंक्षण की सीमित रेखा के अन्दर संगीतज्ञों विशेषतः वादकों को आश्रयदाताओं की रूचि के अनुसार वाद्यों के चयन तथा आश्रय की खोज में इधर-उधर जाकर बसना पड़ता जिससे सारंगी की स्थान-विशेष परम्परा का नियमित विकास नहीं हो सका। रियासतों के विलयन के पश्चात् स्थान विशेष की सीमा में विकसित होनेवाली घराने की परम्परा स्वयमेव बिखर गई। कलाकार जीविका के सन्धान में आकाशवाणी केन्द्रों, विभिन्न नगरों, महानगरों में जहाँ-तहाँ चले गए।

"किराना, पटियाला, ग्वालियर, बनारस आदि गायन शैली के अन्तर को सुस्पष्ट करनेवाले घरानों की भाँति सारंगी वादन के घराने खोजना कठिन है"।[85] मुख्यतः संगत प्रधान वाद्य होने के कारण सारंगी-वादक गायक कलाकारों से अधिक प्रभावित रहे। वे अपने वादन में उन कलाकारों की गायकी की यथावत अनुकृति प्रस्तुत कर देते थे। इस अनुकृति के आधार पर सारंगी वादकों को गायक की गायन शैली के अनुसार किराना, पटियाला आदि घरानों की संज्ञा दी गई जिससे केवल इतना संकेत मिलता है कि वादक कलाकार घराने अथवा गायक विशेष से प्रभावित है, परन्तु गायकी अंग के प्रभाव से मुक्त विशुद्ध बाज अंग प्रधान सारंगी वादन की दृष्टि से सारंगी के घरानों का प्रादुर्भाव अब तक नहीं हो सका। क्रमशः सारंगी वादन की स्वतन्त्र शैली के प्रचलन तथा विकास के साथ सम्भावना है भविष्य में आगे चलकर शायद सारंगी के घरानों का कोई रूप सामने आए।

रामपुर, दिल्ली, कोलकाता, बनारस, बड़ौदा, गौरीपुर आदि जैसी अनेक रियासतों में संगीतज्ञों का जमघट होता था, परन्तु इन नगरों की अपनी स्थायी परम्परा नहीं बन सकी। प्रायः बाहर से संरक्षण की खोज में सारंगी कलाकार आते थे और कुछ दिन दरबार में रहकर अन्यत्र चले जाते थे अथवा उनके वंश में आगे चलकर पुत्र, भतीजे आदि छोड़कर दूसरे दरबार में चले गए, आवश्यक नहीं था कि रियासत के नए शासक को उसी संगीतज्ञ की शैली अथवा वाद्य में ही रूचि हो। इसके अतिरिक्त दरबार में एक ही वाद्य के वादकों के लिए असीमित सम्भावना नहीं थी। अतः ऐसा भी हुआ कि दरबार में ही संरक्षण की दृष्टि से बीनकारों ने अपने पुत्र को सारंगी वादन की तथा सारंगी वादक कलाकारों ने अपने परिवार में गायन की शिक्षा दी। अतः नियमित परम्परा की दृष्टि से घरानों का अभाव मिलता है। इसके अतिरिक्त दुर्लभ दरबारी शास्त्रीय संगीत की अपेक्षा आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न नागरिकों के

लिए गणिकाओं की संगीत गोष्ठियाँ अधिक सुलभ रही तथा बड़ी महफिलों में लोगों की काफी पहुँच हो जाती थी। लगभग सौ वर्ष ऐसी संगीत महफिलें बड़ी लोकप्रिय हुई। ख्याल, ठुमरी आदि गायकी की संगत के उपयुक्त होने के कारण इन महफिलों में सारंगी का व्यापक स्तर पर प्रयोग होने लगा। शास्त्रीय संगीत की दृष्टि से इन महफिलों का संगीत स्तर अत्यधिक उच्च होता था, महफिलों के मुख्य कलाकार महिलायें ही होती थीं, परन्तु उनका उच्च आदर्श एवं स्तर होता था। इस परम्परा ने संगीत-जगत को अनेक श्रेष्ठ कलाकार दिये जिन पर किसी भी संगीत-प्रेमी को गर्व है, परन्तु श्रेष्ठतम परम्परा में भी विकृतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। धीरे-धीरे उन उच्च आदर्शों तथा स्तर की परम्परागत संगीत महफिलों का स्थान मुजरों ने ले लिया, अब महफ़िलों के संगीत के गाम्भीर्य, कलात्मक दृष्टि, नियन्त्रण, सन्तुलन एवं श्रोताओं की रूचि बिगड़ने लगी फलतः स्वस्थ एवं उच्चस्तरीय महफिलों, गोष्ठियों की अपेक्षा सारंगी कोठों में कैद हो गई, ऐसे कोठे जहाँ संगीत मात्र ऊपरी बोर्ड था। मुजरों, महफ़िलों के आकर्षण का मुख्य बिन्दु होती थीं 'गायिका' अथवा 'नर्तकी'।

सारंगी को नर्तकियों की संगत के वाद्य के रूप में जाना जाता था और सामाजिक तौर पर सारंगी वादक संगीतकारों में सबसे नीचे स्तर के माने जाते थे। अतः सारंगी को इन निम्न स्तरीय कोठों का पर्याय समझा जाने लगा। सारंगी के साथ कलाकार का भी सम्बन्ध कुछ इस प्रकार जुड़ गया कि कोई कुलीन अथवा प्रतिष्ठा प्राप्त कलाकार सारंगी का नाम तो भूल कर भी नहीं लेता था। कुछ दशकों पूर्व तक सारंगी तथा सारंगी वादकों की यही स्थिति थी। विचित्र विड़म्बना की बात यह है कि सर्वगुण सम्पन्न तथा वाद्यों में सर्वोच्च होने के बावजूद सारंगी को निम्नतम स्थान दिया जाता रहा। सारिकाविहीन वाद्य की दुरूह वादन शैली, वादन के अतिरिक्त गायन के विभिन्न अंग तथा ताल, लय की गहन जानकारी के पश्चात् कलाकार को न सम्मान मिल पाता और न धन। परिणामतः अन्य कलाकारों की अपेक्षा सारंगी वादकों की आर्थिक सामाजिक स्थिति बड़ी दयनीय रही। इन प्रतिकूल परिस्थितियों में भी सारंगी वादक कलाकारों ने अपना अभ्यास और हौसला नहीं छोड़ा। संगत हो या एकल वादन वे अपने स्थान पर सुदृढ़ रहे। फलस्वरूप आज उच्च संगीत सभाओं में सारंगी की बहुत मांग है। इस वाद्य के वादकों ने राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सम्मान प्राप्त किया है।

यद्यपि सारंगी का कोई स्वतन्त्र घराना दृष्टिगोचर नहीं होता, तथापि वादक कलाकारों ने विभिन्न घराने की गायन शैली को अपनाकर उन्हीं घरानों के नाम से अपनी वादन शैली को प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार भारत के विभिन्न स्थानों के ख्याल, ठुमरी के घरानों में अनेक सारंगी वादकों का नाम पाया जाता है। जैसे - बनारस, किराना, दिल्ली सोनपत, ग्वालियर, पटियाला आदि। परवर्ती में वादकों के नाम के साथ ही उनकी शैली जुड़कर परम्परा बनी। सारंगी की जो स्थिति भारत के अन्य स्थानों में रही वही स्थिति बंगाल में भी रहना स्वाभाविक था।

बंगाल प्रदेश में विभिन्न राजा, महाराजा तथा जमिन्दारों की सहायता से भारत के विभिन्न स्थानों से संगीत कलाकारों को विशिष्ट स्थान प्राप्त होता था। इनमें सारंगी वादक भी थे। इसके अलावा अनेक कलाकारों को विभिन्न प्रकार के संगीत सम्मेलनों में भाग लेने के लिए मुख्यरूप से कोलकाता तथा अन्य शहरों में आमन्त्रित किया जाता था। इस प्रकार संगीत के अन्य क्षेत्रों के समान सारंगी का भी प्रचार-प्रसार तथा प्रयोग बंगाल में आरम्भ हुआ। इस क्षेत्र में सर्वप्रथम दिल्ली सोनीपत घराने का ध्रुपद तथा गायक उस्ताद छंगे खाँ के पुत्र उस्ताद बदल खाँ का नाम पाया जाता है, जो सारंगी के पानीपत घराने के मूर्धन्य संगीतज्ञों मे से एक थे। उनके युग में सारंगी न केवल हेय दृष्टि से देखी जाती थी बल्कि एक ओर लोक-संगीत, सामान्य जनों के बीच प्रयुक्त होने - दूसरी ओर तत्कालीन समाज में प्राय: वेश्याओं के मुजरों तथा महफिलों से जुड़ी होने के कारण घृणित एवं त्याज्य समझी जाती थी। शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में सारंगी की तो कोई कल्पना ही नहीं कर सकता, ऐसी प्रतिकुल एवं कठिन परिस्थितियों के बावजूद बदल खाँ ने अपनी अद्वितीय प्रतिभा तथा कठिन अभ्यास से उपेक्षित सारंगी को संगीत-समाज के बीच सर्वोच्च स्थान पर आसीन कराया। व्यक्तिगत उपलब्धियों के अतिरिक्त उस्ताद बदल खाँ के संगीत को यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण देन है। इनकी संगीत-प्रधान वंश परम्परा लगभग तीन सौ वर्ष पुरानी थी। बदल खाँ के पूर्वज पानीपत के रहनेवाले थे। अत: बदल खाँ के घराने को दिल्ली पानीपत घराने के नाम से ही जाना जाता है, यद्यपि उन्होंने जीवन का अधिकांश भाग कोलकाता में व्यतीत किया। सन् 1857 के पहले उस्ताद बादल खाँ दिल्ली दरबार से सम्बन्धित थे। तत्पश्चात् स्वातन्त्र संग्राम तथा राजनैतिक भूचाल के कारण वह पानीपत चले आये। आर्थिक समस्याओं के कारण कलाकार

प्राय: दिल्ली जाते थे, परन्तु तबतक दिल्ली उजड़ चुकी थी। रईस तथा कलाकार सभी इधर-उधर बिखर गए थे। ब्रिटिश सरकार ने कोलकाता को मुख्य नगर बना दिया। कुछ दिनों के लिए बदल खाँ आगरा, ग्वालियर में भी रहे। तत्पश्चात् सन् 1919 से वे कोलकाता में जाकर रहने लगे और अन्तिम क्षण तक कोलकाता ही उनका स्थायी निवास बना रहा। आत्मविज्ञापन से कोसों दूर उस्ताद बदल खाँ जमिन्दार दुलीचन्द बाबू के दमदम बागवाले मकान के शान्तिप्रिय वातावरण में रहने लगे, परन्तु पुष्प की सुगन्धि को कभी देर तक रोका नहीं जा सकता। शीघ्र ही उनकी प्रसिद्धिं दूर-दूर तक जा पहुँची। उनके निवास पर प्रशंसकों तथा संगीत सीखनेवालों की भीड़ उभरने लगी। उनकी ख्याति से आकर्षित होकर विभिन्न राज्यों तथा रियासतों के राजा-महाराजाओं ने भरसक प्रयास किया कि बदल खाँ उनके दरबार को अलंकृत करे, परन्तु उन्होंने कोलकाता को ही अपना स्थायी निवास स्थान बनाना पसन्द किया। अत: सारंगी के वादन और प्रचार क्षेत्र में कोलकाता तथा बंगाल का संगीत-जगत उस्ताद बदल खाँ का आभारी है। वे केवल प्रसिद्ध सारंगी वादक ही नहीं बल्कि एक अच्छे गायक भी थे। उनके पास गायकी अंग की जानकारी का भण्डार था। उनके जैसे श्रेष्ठ संगीतज्ञ एवं शिक्षक देश में उस काल में कम ही थे। उस्ताद बदल खाँ तत्कालीन संगीत-समाज में प्रचलित संकीर्णता तथा अपनी कला किसी को न बताने की प्रकृति से मुक्त एवं अपवाद स्वरूप वादक थे। उन्होंने अपनी विद्या को मुक्त हाथों से उदारतापूर्वक वितरित किया। अत: उनकी शिष्य परम्परा में धनी, अत्यन्त निर्धन, युवक, वृद्ध तथा सभी सम्प्रदायों के संगीतज्ञ मिलते है। इनमें उल्लेखनीय हैं - गिरिजाशंकर चक्रबर्ती, नगेन्द्रनाथ दत्त, धीरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य, कृष्णचन्द्र दे, भीष्मदेव चटर्जी, सचिन दास, मोतीलाल, शैलेश दत्त, ज़मीरूद्दीन खाँ आदि। उस्ताद बदल खाँ के इन शिष्यों के द्वारा उनकी गायन शैली और सारंगी वादन का प्रचार सम्पूर्ण बंगाल में हुआ। विशेष रूप से सारंगी के क्षेत्र में उनकी महत्त्वपूर्ण देन बंगाल तथा सम्पूर्ण भारत के संगीत-जगत के लिए आशिर्वाद स्वरूप थी। 103 वर्ष की आयु में सन् 1937 में वे कोलकाता में ही स्वर्गवासी हुए। कहा जाता है कि दिल्ली-पानीपत घराने ने सारंगी के महत्त्व तथा सम्मान का मार्ग प्रशस्त किया।

20वीं सदी के पूर्वार्द्ध से बनारस, किराना, पटियाला, ग्वालियर आदि घरानों के सारंगी वादकों के साथ भी बंगाल का अधिक सम्बन्ध रहा। उनमें उस्ताद बुन्दू खाँ, उस्ताद अल्लादिया खाँ, उस्ताद मुनीर खाँ, पं. गोपाल मिश्र, उस्ताद नज़ीर अहमद, पं. बैजनाथ मिश्र,

पं. रामनारायण मिश्र, पं. रामनारायण, पं. शम्भूनाथ मिश्र, उस्ताद सुल्तान खाँ आदि उल्लेखनीय हैं। इन कलाकारों ने स्थायी रूप से भले ही बंगाल में निवास नहीं किया, परन्तु विभिन्न संगीत सम्मेलनो में भाग लेने के लिए तथा संगत के कारण प्रायः इनको आमन्त्रित किया जाता रहा और आज भी किया जाता है। उनमें से पं. बैजनाथ मिश्र को कई बार आमन्त्रित किया गया। कोलकाता का एक-एक संगीत-प्रेमी उनके सारंगी वादन का प्रशंसक बन गया। अतः प्रत्यक्ष रूप से न सही, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से सारंगी के प्रयोग-क्षेत्र में इनका सम्बन्ध अवश्य रहा है। उल्लेखनीय है कि बंगाल में सदा ही इसराज का प्रभाव अधिक रहा। इसलिए इसराज को बंगाल की सारंगी भी कहा जाता है। इसराज की तुलना से सारंगी का प्रयोग भले ही कम रहा हो, परन्तु बंगाल का श्रोता-समाज इस वाद्य की सुमधुर आवाज़ से कभी दूर नहीं रहा। सारंगी के विभिन्न प्रकार विशेषकर उत्तर भारत के राजस्थान, गुजरात, कश्मीर आदि भागों में लोक-वाद्य के रूप में अधिक प्रचलित हैं, परन्तु लोक-संगीत के क्षेत्र में प्रचलित सारंगी प्रदेश विशेष तथा अन्य नामों से प्रचलित है। उन स्थानों में शास्त्रीय वादन-क्षेत्र में भी इस वाद्य को अधिक महत्त्व दिया जाता है। बंगाल में लोक-संगीत के संगत वाद्य के रूप में किसी प्रकार की सारंगी का प्रयोग नहीं देखा जाता है, परन्तु सारिन्दा नामक लोक-वाद्य का प्रयोग सम्पूर्ण बंगाल में विशेष रूप से पूर्व बंगाल (बांग्लादेश) और उत्तर बंगाल में अधिक है, जो सारंगी से भी प्राचीन वाद्य माना जाता है।

वर्तमान में बंगाल में शास्त्रीय संगीत की विभिन्न शैलियों में मुख्य रूप से ख्याल, ठुमरी, टप्पा आदि में संगत-वाद्य के रूप में सारंगी का अधिक प्रयोग देखा जाता है। नृत्य के साथ तथा तबला सोलो में लहरा देने के लिए भी सारंगी का महत्त्वपूर्ण उपयोग होता है। कलाकारों को इसमें स्वतन्त्र वादन भी बड़ी कुशलता से करते हुए देखा गया है। बंगाल में सारंगी वादन के क्षेत्र में कुछ कलाकार जैसे बाच्चालाल मिश्र, कानाई मिश्र, रामनाथ मिश्र, रमेश मिश्र, हुसैन अली खान, महेश प्रसाद मिश्र, विद्या सहाय, रामलाल मिश्र आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। शास्त्रीय क्षेत्र के अलावा विभिन्न प्रकार के रागाश्रयी बांग्ला गीत, गजल, भजन तथा नाटक, फ़िल्म आदि के संगीत में भी सारंगी का थोड़ा-बहुत प्रयोग देखने को मिलता है।

सारंगी के विषय में अन्तिम बात यह कही जा सकती है कि सारंगी एक सम्पूर्ण तथा महत्त्वपूर्ण वाद्य है। चाहे लोक-संगीत हो अथवा शास्त्रीय संगीत, चाहे संगत हो अथवा स्वतन्त्र वादन, सभी क्षेत्रों तथा विधाओं में सारंगी ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है, यही इस वाद्य की सबसे बड़ी विशेषता है। कोई भी संगीतज्ञ चाहे जिस सप्तक अथवा सुर से गानेवाला हो, चाहे ख्याल गायक हो, चाहे ठुमरी अथवा गज़ल, भजन अथवा लहरा देना हो, प्रत्येक शैली के साथ सारंगी पर संगत सशक्त तथा कार्यक्रम में चार चाँद लगानेवाली सिद्ध होती है। मात्र सारंगी ऐसा वाद्य है जिस पर गायकों की कठिन से कठिन गायकी का शत-प्रतिशत सटीक अनुकरण सम्भव है। स्वतन्त्र वादन तथा जुगलबन्दी वादन में सारंगी की क्षमता सार्वजनिक रूप से सिद्ध हो चुकी है। चाहे नृत्य के साथ लहरा देना हो अथवा चाहे तबला सोलो के साथ, सारंगी जैसी मधुर आवाज़ तथा मिठासवाला सटीक वाद्य हिन्दुस्तानी ही नहीं अन्य पद्धतियों तथा विदेशों में भी मिलना कठिन है। इतने गुणसम्पन्न होते हुए भी सारंगी की वादन शैली की कठिनाई तथा अभ्यास की कमी के कारण सारंगी आज लुप्त प्राय वाद्य है।

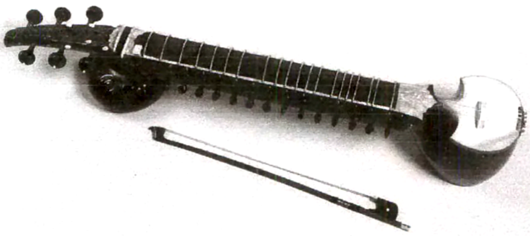	
इसराज	मन्द्रबहार
	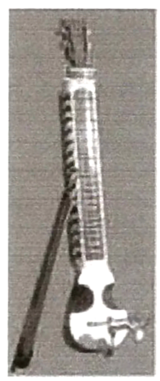
दिलरुबा	तार शहनाई
सारंगी	व्हायोलिन

व्हायोलिन

आज के संगीत-जगत में गज़ या बो (bow) की सहायता से बजाए जानेवाले वाद्यों में 'व्हायोलिन' वाद्य सर्वाधिक लोकप्रिय और दुनिया के सभी देशों के संगीत में अधिक प्रचलित वाद्य है। उसके लिए बहुत ज्यादा लम्बी प्राचीन परम्परा तो नहीं है, किन्तु इस वाद्य से रिश्ता जतानेवाले अनेक आदिम वाद्य संसार के अन्यान्य भागों में पुरातन काल से थे। आज के व्हायोलिन का बीजरूप इन आदिम वाद्यों में पाया जा सकता है।

व्हायोलिन का उद्‌भव कई शताब्दियों सें विद्वानों और संगीतज्ञों के लिए अनुसन्धान व अन्वेषण का एक आकर्षक विषय रहा है। पाश्चात्य तथा भारतीय सभी विद्वानों का मत यह है कि तारों पर गज़ चलाकर ध्वनि उत्पन्न करनेवाले वाद्यों अर्थात् गज़ से बजानेवाले वाद्यों का सूत्रपात सर्वप्रथम भारत में हुआ और यहीं से वह विदेशों में गया। इस विषय पर डॉ. एन. राजम् जी का कहना है कि, "इस समय व्हायोलिन का जो स्वरूप प्रचलित है वह निश्चय ही विदेशी है लेकिन इसके आविष्कार और संरचना के पीछे भारतीय वाद्यों का ही हाथ है - इसमें शक नहीं। भारतीय वाद्यों के आधार पर इसका निर्माण विदेश में हुआ... फिर अंग्रेज़ी शासनकाल में यह श्रीलंका होते हुए भारत पहुँचा"।[86]

भारत में गज़वाद्यों की परम्परा शताब्दियों प्राचीन है। यहाँ गज़वाले वाद्य यन्त्र प्राचीन काल से ही संस्कृति व संगीत का एक अभिन्न अंग रहे हैं। भारतीय संगीत में व्हायोलिन के समान गज़ से बजनेवाले वाद्यों का प्रचार उस काल से आरम्भ हो चुका था।

भारतीय लोक-संगीत में सदा ही गज़वाले वाद्यों का प्रचलन रहा है। प्राचीन रोमन, यूनानी तथा हिब्रू कमानी की सहायता से बजाये जानेवाले वाद्यों से अपरिचित थे, परन्तु भारत में 7वीं शताब्दी से पूर्व ही इस प्रकार वाद्यों के प्रचलन का पर्याप्त प्रमाण मिलता है। दूसरी, 5वीं से 13वीं शताब्दी के बीच बने मन्दिरों, गुफाओं के चित्रों, उत्कीर्ण भित्तिचित्रों में गज़ से बजाये जानेवाले अनेक वाद्यों को प्रस्तुत किया गया है, जो आज की व्हायोलिन के धारणा विधि से मिलता है। "दक्षिण में कुछ मन्दिरों में व्हायोलिन शैली में बजाई जा रही कुमार वीणा भित्तियों पर चित्रित है"।[87] देश की अनेक आदिम जातियों तथा कबीलों के बीच प्रचलित पचास से अधिक लोक-वाद्यों में कमानी से बजाये जानेवाले अनेक वाद्य आज भी प्रचलित हैं।

इनके अतिरिक्त 7वीं शताब्दी के समकालीन ग्रन्थों में गज़ से बजाये जानेवाले वाद्यों का उल्लेख मिलता है। नारद, पालकुरूकी, सोमनाथ व हरिपल जैसे संगीत-शास्त्री व विद्वानों ने गज़ से बजाये जानेवाले वाद्यों का उल्लेख किया हैं। इनमें से कुछ वाद्यों का आकार वर्तमान व्हायोलिन से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। अजन्ता के भितिचित्रों में इस प्रकार वाद्य यन्त्र चित्रित हैं। "आन्ध्र प्रदेश में विजयवाड़ा के मल्लिकार्जुन मन्दिर में, मैसूर के निकट 10वीं शताब्दी के आकेश्वर मन्दिर के शिल्प में तथा चिदम्बरम् के नटराज मन्दिर में आधुनिक व्हायोलिन से मिलती-जुलती आकृतिवाले अनेक वाद्यों की शिल्पाकृतियाँ मिलती हैं, जिन्हें लोक-वाद्यों के वर्ग में सम्मिलित नहीं किया जा सकता"।[88] किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि इन वाद्यों का प्रयोग भारत की अभिजात शास्त्रीय संगीत की परम्परा में किया हुआ नहीं पाया जाता। उनका प्रयोग अधिकतर लोक-संगीत में होता था।

" 'संगीत पारिजात' तथा 'राधागोविन्द संगीत सार' में वर्णित दण्डी वीणा के विवरणों से प्रतीत होता है कि 7वीं से 13वीं शताब्दी के बीच दण्डी वीणा के वाम पार्श्व पर लगे तुम्बें को कन्धे से लगाकर अथवा छाती से लगाकर खड़े होकर या बैठकर बजाया जाता था। इस प्रक्रिया में वीणा लगभग सीधी रखी जाती रही होगी। 13वीं शताब्दी तक खड़े होकर वीणा वादन की परम्परा समाप्त हो गई तथा खड़ा करने में सहारा प्राप्त होने के कारण दाये पार्श्व में और आगे चलकर नीचे की ओर तुम्बें अथवा अनुनादी लगाने की परम्परा आरम्भ हुई। वीणा को बैठकर बजाया जाने लगा"।[89] सारंगी, जो पिछली कई शताब्दियों से भारतीय संगीतज्ञों द्वारा आविष्कृत और विकसित पूर्ण वाद्य है, दर्शाता है कि गज़वाले वाद्यों में भारतीय संगीतज्ञ कितने निपुण थे।

देश का शायद ही कोई भाग होगा जहाँ व्हायोलिन से मिलते-जुलते गज़-वाद्यों का किसी न किसी रूप में प्रचलन न हो। यह बात अलग है कि वाद्यों के अनुनादी आज-कल की भाँति सुडौल एवं चिकने न होकर सामान्य लकड़ी के खोल अथवा नारियल के बने होते थे तथा उन्हें कन्धे से सटाकर बजाया जाता था। ऐसे वाद्यों में वीणाकुंजु, पल्लवन, केन्दु, पेन, बनम, किंगरी, केनरा, रावणहत्ता इत्यादि पुराने तन्तुवाद्य व्हायोलिन की प्राचीन अवस्था के सबूत माने जा सकते हैं। क्योंकि इन प्राचीन वाद्यों की कुछ ऐसी रचना है कि ये वाद्य व्हायोलिन की तरह उलटे पकड़कर गज़ द्वारा बजाये जाते हैं। इन वाद्यों की रचना में स्वरों

की पट्टी निचली तरफ रहती है और ध्वनि पेटिका या उसके शरीर का मुख्य अंग ऊपर की तरफ रहता है। गज़ को ऊपरवाले हिस्से पर घुमाकर तारों को छेड़ने और स्वरपट्टी पर अंगुलियाँ चलाकर स्वर निर्मित करके इन वाद्यों को बजाने का तरीका पुराने वाद्यों में अपनाया जाता था। इस प्रकार से गज़ द्वारा बजाये जानेवाले और व्हायोलिन से सतही समता रखनेवाले तन्तुवाद्य भारत में प्राचीन काल से प्रचार में थे, जिसका सबूत हमें भारतीय विभिन्न शिल्पों से प्राप्त होता है। कुछ कबीलों में प्रचलित टँगटा टोगना नामक वाद्य भी गज़ से बजाये जानेवाले वाद्यों के परिवार का एक सदस्य है। चीन के अरहीन, जापान के कोकिऊ तथा अरब के केमन्गेह को गज़ वाद्यों के अन्तर्गत सम्मिलित किया जा सकता है। स्पष्टतः गज़ वाद्यों की परम्परा न केवल शताब्दियों प्राचीन बल्कि व्यापक रूप में भारत तथा अन्यत्र शास्त्रीय संगीत से लेकर लोक-जीवन तक में व्यापक एवं समृद्ध रही है। व्हायोलिन इसी गज़ वाद्यों परम्परा की देन है, जिसने गज़ से बजायें जानेवाले वाद्यों में सर्वोच्च प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर लिया है।

प्राचीन काल से भारत के साथ विश्व के विभिन्न देशों का व्यापारिक व सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हुआ था तथा शताब्दियों तक भारत में विभिन्न जातियों का शासन चलता रहा। अरब देशों का सम्बन्ध भारत में बहुत प्राचीन काल से ही रहा है। छठवीं, सातवीं शताब्दी से मुसलमानों का आक्रमण भारत के उत्तर-पश्चिम क्षेत्र में होना प्रारम्भ हो गया था। तत्पश्चात् मुस्लिम शासन काल में युरोपीय जातियों का भारत में घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हुआ। इन्हीं सब कारणों से विभिन्न देशों के साथ भारत का सांगीतिक विनिमय भी दृढ़ होता गया। फलतः भारतीय प्राचीन वाद्य यन्त्रों के साथ अन्य देशों के वाद्य यन्त्रों का भी मिश्रण होने लगा। इस मिश्रण के कारण भारतीय वाद्य यन्त्रों का प्राचीन नाम, स्वरूप तथा वादन पद्धति में भी परिवर्तन होना स्वभाविक था। परन्तु कौन देश के किस वाद्य के साथ मिश्रण से भारतीय वाद्यों का परिवर्तन तथा परिवर्धन हुआ इसका धारावाहिक और सटीक इतिहास ढूँढ़ना बहुत ही कठिन है। प्राचीन युग से व्यापार तथा धर्म प्रचार के द्वारा विश्व के विभिन्न देशों में भारतीय संगीत का विस्तार आरम्भ हुआ था एवं भारत ने भी अन्य देशों के संगीत-संस्कृति को अपनाकर अपना सांगीतिक भण्डार को समृद्ध किया। उस समय से ही विभिन्न प्रकार वाद्य यन्त्रों का विवर्तन, परिशोधन तथा उन्नति होती रही। इस परिवर्तन और परिशोधन के पीछे भारत के साथ अन्य देशों का भी योगदान रहा।

माननीय है कि रावणहस्त वीणा लंकाधिपति रावण ने बनाई थी, जिसके दो तारों को गज़ से बजाया जाता था। संगीत सुधाकर, संगीत रत्नाकर, संगीतराज आदि ग्रन्थों में गज़ से बजायी जानेवाली पिनाकी वीणा का वर्णन उपलब्ध होता है, जिससे व्हायोलिन का आकार-प्रकार तथा वादन-शैली अधिकांश में मिलती-जुलती है। इसके अतिरिक्त मध्य एशिया के कुछ अन्य गज़-वाद्यों का भी नाम मिलता है जिनका क्रमशः परिवर्तन से व्हायोलिन का जन्म माना जाता है। किन्तु यदि रावणहस्त वीणा को आधार माने तो भारत में गज़ वाद्य का प्रचलन रामायण काल से ही था।

"मुस्लिम देशों में गज़वाले वाद्यों का सामान्य नाम रबाब है। श्री कार्ल गैरिंगर के अनुसार, अरब का रबाब जो कि गज़ से बजाया जानेवाला ल्यूट था, जिससे बाद में रिबेक अथवा गीग वाद्य बना, इस रिबेक वाद्य ने व्हायोलिन के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया"।[90] "आस्कर थॉम्सन ने अपने संगीत के शब्दकोश में लिखा है कि व्हायोलिन के पूर्ववर्ती महत्त्वपूर्ण वाद्य में से रबाब एक है। मूर लोगों में जब सन् 711 में स्पेन पर आक्रमण किया तब रबाब का युरोप में प्रवेश हुआ। युरोप में रबाब को रिबेक के नाम से जाना गया। रिबेक से वियल का निर्माण हुआ। रिबेक और वियल के सम्बन्ध में कार्ल गैरिंगर ने बताया है कि 16वीं सदी के इन दोनों वाद्य ने अनेक वाद्यों के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उन वाद्यो में सबसे महत्त्वपूर्ण वाद्य है व्हायोलिन। इन आधार पर रबाब, रिबेक और वियल इसके बाद व्हायोलिन यह विकास का क्रम निश्चित होता है"।[91]

ई. 8वीं सदी तक युरोपीय ऐतिहासिक ग्रन्थों में व्हायोलिन का नाम नहीं मिलता है। ई. 11वीं सदी में अरब के रबाब वाद्य के अनुकरण से इटली में वियल का निर्माण हुआ एवं सम्पूर्ण युरोप में प्रचार हुआ। अरब के इस रबाब वाद्य का निर्माण पर्शियन वाद्य कमानजे की अनुकरण से हुई तथा कमानजे का निर्माण भारतीय अमृति एवं रावनास्त्रम् से हुआ ऐसा माना जाता है"।[92] इस विषय पर GROVE'S DICTIONARY OF MUSIC AND MUSICIANS, 3rd Ed. Vol. III, page no. 13, में उल्लेख है कि, "Kemangeh..... It is undoubtedly one of the earliest of all bowed instruments, claiming its identity or descent from somewhat mythical Ravanastram of India".[93] "क्षेत्रमोहन गोस्वामी जी के अनुसार, व्हायोलिन भारतीय वाद्य है इस विषय पर कोई सन्देह नहीं है, परन्तु कालान्तर में जातिभेद तथा रूचिभेद से इसकी केवल अवयव में परिवर्तन हुई"।[94]

"धनुष वाद्यों विषयक ग्रन्थकार F. J. FATIS साहब के अनुसार There is nothing in the West which has not come from the East." [95] "श्री ई. एन. डोरिंग ने विश्व संगीत कोष में व्हायोलिन शीर्षक के अन्तर्गत लिखा है कि लम्बी गर्दन व गज़ से बजनेवाला पुराना वाद्य भारत में अति प्राचीन समय में था। अनुसन्धान से यह प्रमाणित हो चुका है कि गज़वाले वाद्यों का प्रथम प्रयोग भारत में हुआ और इसके पश्चात् अन्य देशों में गज़ से बजनेवाले वाद्यों का प्रयोग आरम्भ हुआ"।[96]

परन्तु यह अवश्य स्वीकार्य है कि व्हायोलिन का वर्तमान रूप एवं आवाज़ की ध्वनि-माधुर्यता आदि युरोप की ही देन है। क्योंकि लगभग चारसौ वर्षों के वैज्ञानिक गवेषणा तथा प्रयास के द्वारा उन्होंने ही इस वाद्य के उत्कर्षता में सफलता प्राप्त की।

अपने आधुनिक रूप में व्हायोलिन के आने का इतिहास विचित्र है। व्हायोलिन जैसे गज़ वाद्यों के प्रचलन से पहले पश्चिमी देशों में तारों के जो वाद्य यन्त्र प्रयोग में थे, वे आकार में विशालाकाय होते थे तथा अंगुलिपटल नीचे एवं ध्वनि-मंजुषा ऊपर करके उन्हें बजाया जाता था। यह शैली आज-कल के व्हायोलिन बजाने की शैली के बिलकुल विपरीत है और बहुत कुछ सारंगी के समकक्ष है। जब इस शैली के छोटे वाद्ययन्त्रों का निर्माण हुआ, तो उनकी ध्वनि-मंजुषा को वक्षस्थल के सहारे टिकाकर बजाया जाने लगा। लिरा, फिदुला (13वीं शताब्दी) और वायल-डि-गाम्बा इस प्रकार के वाद्य थे। वायोला नाम का वाद्य इन्हीं वाद्ययन्त्रों से बना। पाश्चात्य संगीत में परिवर्तन होने के साथ-साथ तीव्र स्वर की वाद्य की आवश्यकता पड़ी, तो वायोला का ही लघु संस्करण तैयार किया गया, जिसका नाम 'व्हायोलिन' पड़ा।

इस वाद्य के आविष्कारक के सम्बन्ध में विभिन्न मत पाए जाते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि गॉस्पर डुईफोप्रगर ने व्हायोलिन का आविष्कार किया। कुछ मनीषियों का यह मानना है कि वर्तमान व्हायोलिन के निर्माता आन्दे आमाती हैं। कुछ गुणियों का यह विचार है कि टाइरोल के गॉसपारो बरतोलोत्ती ने व्हायोलिन को बनाया। इस प्रकार गॉस्पर डुईफोप्रगर, आन्दे आमाती एवं गॉसपारो बरतोलोत्ति को व्हायोलिन के आविष्कर्ता होने का श्रेय दिया जाता है। कुछ चिन्तकों की यह धारणा है कि व्हायोलिन का विकास 'वायल' नामक वाद्य से हुआ है।

डॉ. एन, राजम् के अनुसार, "व्हायोलिन की रचना 16वीं सदी के द्वितीय चरण में, बोलोन निवासी गॉस्पर डुइफोप्रगर ने किया जिसके बाद आमाती, स्त्रादिवारी, स्टेनर, होप तथा अन्य प्रकार प्रवृत्त हुए"।[97]

"जोसेफ बर्ग के अनुसार, प्रायः सभी विद्वान लोग आन्दे आमाती को व्हायोलिन के निर्माता मानते हैं। आज व्हायोलिन का जो आकार है उसे क्रिमाना में आन्द्रे आमाती ने बनाया है"।[98]

श्री प्रकाश नारायण ने अपनी पुस्तक 'व्हायोलिन वादन' में इस वाद्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बताया है कि, "व्हायोलिन का आधुनिक रूप हमें टाइरोल के रहनेवाला गॉसपारो बरतोलोत्ती की कृपा से मिल सका है"।[99] "श्री नारायण वी. पण्डित ने इसकी उत्पत्ति का श्रेय गॉस्पर-द-सालो को दिया है। यह दो नामों से ऐसा प्रतीत होता है कि यह दो व्यक्ति होंगे, किन्तु गॉसपारो बरतोलोत्ती यह उनका पारिवारिक नाम है। इनका जन्म उत्तर इटली के 'सालो' नामक स्थान पर हुआ, इसलिए उन्होंने अपना नाम गास्पर-द-सालो रख लिया था"।[100]

उल्लेखनीय है कि, "गॉस्पर डुइफोप्रगर का जन्म सन् 1514, आन्द्रे आमाती का जन्म सन् 1535 तथा गॉसपारो बरतोलोत्ती का जन्म सन् 1540 अथवा 1542 में हुआ"।[101] परन्तु पाश्चात्य देशों के संग्रहालयों में कुछ ऐसे चित्र हैं, जिसमें वर्तमान में प्रचलित तथा आकार से कुछ मिलते-जुलते व्हायोलिन स्पष्ट अंकित है। सन् 1505 से 1508 के मध्य गारोफालों द्वारा दीवाल में बनाया गया चित्र उपलब्ध है, जिसमें एक महिला के हाथ में व्हायोलिन स्पष्ट दिखाई पड़ता है। एक बालक के हाथ में तीन तारवाला व्हायोलिन दृष्टिगोचर होता है। यह चित्र सन् 1529 का बनाया हुआ है। एक चित्र सन् 1534 का मिलता है, जिसमें बहुत से वाद्यों के साथ व्हायोलिन भी अंकित है"।[102]

इन चित्रों का निर्माण काल से यह प्रमाणित होता है कि गॉस्पर डुइफोप्रगर, आन्दे आमाती और गॉसपारो बरतोलोत्ती, इन तीनों से पूर्व व्हायोलिन का प्रचार समाज में हो चुका था। इस दृष्टि से इन्हें अच्छे व्हायोलिन निर्माता के रूप में मानना उचित होगा। श्रेष्ठ कारीगरी से निर्मित व्हायोलिन के द्वारा इन्होंने इस वाद्य के प्रचार-प्रसार में अधिक योगदान दिया, यह कहना अधिक सार्थक प्रतीत होता है।

डॉ. श्रीमती एन. राजम् के अनुसार, "व्हायोलिन का विकास इटली के ब्रोस्किया नगर और बाद में क्रिमोना नगर में 16वीं शताब्दी में हुआ। इसके आविष्कार का श्रेय ब्रोस्किया शहर के कास्पेरो डी बर्तोलोत्ती को जाता है, जिसके वंश में व्हायोलिन के महान शिल्पकार मैग्गिनी भी आते हैं। क्रिमोना शहर में उसके समकालीन आन्द्रे आमाती को भी इसके निर्माण का श्रेय दिया गया, जो न केवल स्वर-प्रबलता में बल्कि निर्माण-गुणों में भी श्रेष्ठतर थे। यह व्हायोलिन शिल्प में सरचनात्मक प्रगति का द्योतक था। आगे चलकर आन्द्रे आमाती के पौत्र निकोलस आमाती (1596-1684) ने प्रगति की इस परम्परा को आगे बढ़ाया। पर व्हायोलिन को शिल्प विद्या की दृष्टि से पूर्णता के शिखर पर पहुचाने का श्रेय निकोलस आमाती के शिष्य एन्टोनियो स्त्रादिवारी (1644-1751) को है। उसने अपने जीवन में लगभग बारहसौ व्हायोलिनों, व्हायोलाओं और सेलों का निर्माण किया। प्रत्येक नया नमूना पिछले प्रतिरूप से श्रेष्ठतर होता था। जीवन-भर वह सुरीला व्हायोलिन बनाने के क्षेत्र में नूतन प्रयोग करता रहा"।[103]

इन सब तथ्यों के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि गज़-वाद्यों का सर्वप्रथम प्रयोग भारत में ही आरम्भ हुआ था और अन्य देशों के गज़-वाद्यों के निर्माण का प्रेरणा स्रोत भारतवर्ष ही रहा। अरब, युरोप के विभिन्न जातियों का भारत के साथ घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित होने के कारण इनके साथ भारत का सांस्कृतिक तथा सांगीतिक सम्बन्ध दृढ़ होता गया। फलतः वाद्य यन्त्रों का भी विनिमय होता रहा। इस विनिमय के फलस्वरूप अरब तथा युरोप के विभिन्न देशों के गुणियों के द्वारा भारतीय गज़-वाद्यों का क्रमिक परिवर्तन तथा परिशोधन होता रहा। इस परिवर्तन और परिशोधन के द्वारा ही व्हायोलिन जैसे मधुर आवाज़वाले गज़-वाद्य का निर्माण सम्भव हुआ, जो वर्तमान में सम्पूर्ण विश्व में एक अधिक प्रचलित तथा लोकप्रिय वाद्य है। इसलिए गज़ वाद्यों के निर्माण का प्रेरणा स्रोत भारत वर्ष होते हुए भी हमें यह स्वीकार करना होगा कि व्हायोलिन का वर्तमान रूप पाश्चात्य देशों का ही देन है। क्योंकि उनकी शताब्दियों के गवेषणा और मेहनत का नतीज़ा है आज का यह व्हायोलिन।

व्हायोलिन वाद्य के निर्माण में युरोप महादेश के इटली, जर्मनी, इंग्लैण्ड देशों का महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। आज हम व्हायोलिन का जो रंग-रूप देखते हैं वह उसे 17वीं और 18वीं शताब्दी में प्राप्त हुआ। इसका श्रेय गिने-चुने कुशल कारीगरों को जाता है, जिनमें आमाती, एन्टोनियो, स्त्रादिवारी, पाआलो, मैग्गिनी, क्लोट्ज़् विशेष उल्लेखनीय हैं।

भारत में व्हायोलिन का प्रवेश अनुमानतः कोई तीनसौ वर्ष पूर्व पश्चिमी देशों के व्यापारियों द्वारा हुआ। अंग्रेज़ों, फ्रांसीसियों और पुर्तगालियों के भारत में उपनिवेश व मण्डियाँ स्थापित होने के पश्चात् भारतवासियों ने इन विदेशियों द्वारा बजाया पाश्चात्य शैली का व्हायोलिन वादन सुना और वे इस वाद्य में रूचि रखने लगे। भारतीय संगीत में व्हायोलिन को सम्मिलित करने का श्रेय दक्षिण के कलाकारों को दिया जाता है। क्योंकि भारत के दक्षिण प्रान्त में ही सर्वप्रथम युरोपियों का आगमन तथा व्हायोलिन का प्रवेश हुआ था। भारत में व्हायोलिन का प्रयोग 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से हो रहा है। उत्तर भारत में व्हायोलिन का शास्त्रीय संगीत में प्रयोग 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ। तत्पश्चात् विभिन्न कलाकारों के योगदान के द्वारा इस प्रचार सम्पूर्ण भारत में हुआ। इनमें बंगाल प्रदेश के कलाकार भी शामिल थे। भारत के अन्य प्रदेशों के समान बंगाल में भी इस वाद्य का प्रयोग शुरू हुआ। शास्त्रीय संगीत से लेकर संगीत के सभी क्षेत्रों में धीरे-धीरे इस वाद्य का प्रयोग बंगाल में होने लगा जो आज भी बरकरार है।

बंगाल में व्हायोलिन का प्रयोग

बंगाल में व्हायोलिन का प्रयोग कब से आरम्भ हुआ और संगीत के किस क्षेत्र में सर्वप्रथम इस वाद्य का प्रयोग किया गया इस विषय पर कोई ठोस तथ्य प्राप्त नहीं होता है। बंगाल के प्रवीण संगीतकारों से यह जानकारी मिलती है कि व्हायोलिन का शास्त्रीय-वादन आरम्भ होने से पहले भी बंगाल के लोक-वाद्य के साथ तथा कुछ वाद्यों के स्थान पर व्हायोलिन को प्रयोग किया गया, जैसे - कीर्त्तन संगीत के वाद्यवृन्द में एवं बाउल कलाकारों के द्वारा बंगाल में इस वाद्य को सर्वप्रथम प्रयोग किया गया, परन्तु कोई प्रामाणिक तथ्य प्राप्त न होने से इस विषय पर ज्यादा जानकारी नहीं दी जा सकती है।

श्री राज्येश्वर मित्र ने अपने ग्रन्थ 'प्रसंग बांग्ला गान' के पृष्ठ 79 पर स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि, "सन् 1804 में जब रामनिधि गुप्त ने आखड़ाई गीत शैली का प्रचलन किया उस समय व्हायोलिन एक प्रचलित वाद्य रहा। इससे प्रतीत होता है कि 18वीं सदी के अन्त से ही बंगाल में व्हायोलिन का प्रचलन आरम्भ हो चुका था"। परन्तु इस विषय पर उन्होंने इससे ज्यादा जानकारी नहीं दी तथा कलाकारों का भी नाम उल्लेख नहीं किया। तत्पश्चात् जोड़ासाँको ठाकुर परिवार के देवेन्द्रनाथ ठाकुर के पुत्र "ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर

(रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बड़े भाई) जो कण्ठ एवं वाद्य-संगीत के विशेष ज्ञानी थे, अपनी कॉनसर्ट रचना के लिए देशी-विदेशी सभी प्रकार के वाद्यों का उपयोग करते थे तथा जो भी उत्तम हो उसे ग्रहण करने में विशेष रूचि रखते थे। वह अपनी रचनाओं में तथा नाटक के कॉनसर्ट में देशी वाद्यों के साथ विदेशी वाद्यों में पियानो, क्लैरोनेट, सेलो तथा व्हायोलिन आदि का उपयोग करते थे"।[104] उस काल बंगाल के विभिन्न सांगीतिक कार्यक्रमों में भी विदेशी वाद्य का प्रयोग होता था, जैसे – "'विद्वज्जन समागम' (1875?) सभा के सांगीतिक कार्यक्रम में पियानो का वादन हुआ था, यह जानकारी मिलती है"।[105] ठाकुर परिवार के सदस्यवर्ग देशी वाद्यों के साथ-साथ विदेशी वाद्यों का भी अभ्यास करते थे। उनमें व्हायोलिन एक मुख्य वाद्य था। ज्योतिरिन्द्रनाथ के व्हायोलिन वादन के बारे में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने 'संगीत चिन्ता' नामक ग्रन्थ में कहा है कि, "ज्योति दादा कभी-कभी मुझे साथ लेकर नौका विहार करने जाते थे। नाव में मैं गाता रहता था और ज्योति दादा मेरे साथ व्हायोलिन में पूर्वी, पूरिया धनाश्री, बिहाग आदि रागों के सुर एक के बाद एक निकालते रहते थे। श्याम से गाना-बजाना शुरू होता था और कब सुबह हो जाती, पता ही नहीं चलता था। नाव में बैठकर बीच नदी के शान्त परिवेश में दादा के व्हायोलिन वादन से एक अपूर्व सुन्दर स्वर्गीय परिवेश का अनुभव होता था"।[106] इन तथ्यों के आधार पर यह कहना अनुचित नहीं होगा कि पूरी तरह से शास्त्रीय वादन-क्षेत्र में न सही, परन्तु संगीत के अन्य क्षेत्र में व्हायोलिन का प्रयोग बंगाल में 18वीं सदी के अन्त से ही आरम्भ हो चुका था।

भारतीय शास्त्रीय संगीत में व्हायोलिन को प्रतिष्ठित करने का श्रेय दक्षिण के कलाकारों को दिया जाता है। क्योंकि उन्होंने ही सर्वप्रथम इस वाद्य की पाश्चात्य पद्धति को अस्वीकार कर भारतीय संगीत की विशेषता के अनुरूप मीण्ड, गमक आदि का योग्य प्रयोग कर इसे शास्त्रीय संगीत के लिए उपयुक्त सिद्ध किया एवं सुन्दर रूप में श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत कर सम्पूर्ण भारत में इसका प्रचलन किया। आज दक्षिण भारतीय संगीत में व्हायोलिन को एक मुख्य वाद्य के रूप में स्थान प्राप्त है। दक्षिण में शास्त्रीय वादन-क्षेत्र में व्हायोलिन का प्रयोग प्रारम्भ होने के सालों बाद जब उत्तर भारतीय शास्त्रीय वादन-क्षेत्र में इस वाद्य को स्थान प्राप्त हुआ, तब बंगाल के संगीत प्रेमियों ने भी इसके शास्त्रीय वादन में रूचि प्रदर्शित की। श्री गगन बाबू, उस्ताद अलाउद्दीन खाँ तथा उनके परवर्ती में जी. एन. गोस्वामी, उस्ताद मतिउर रहमान, पं. वी. जी. जोग आदि कलाकारों के द्वारा बंगाल में शास्त्रीय वादन-क्षेत्र में

इसका प्रचार-प्रसार हुआ। इनके अतिरिक्त इस क्षेत्र में और भी अनेक कलाकार हुए होंगे, जिनका नाम इतिहास के पन्ने पर नहीं लिखा गया होगा।

व्हायोलिन एक पाश्चात्य वाद्य होने के कारण एवं दक्षिण भारत की तुलना में उत्तर भारत में यह विलम्ब से प्रचलित होने के कारण खास तौर पर इसका कोई घराना दृष्टिगोचर नहीं होता है। कलाकार इसमें जो भी वादन करते हैं वह कण्ठ-संगीत तथा वाद्य-संगीत के घरानों के आधार से ही करते हैं। बंगाल के व्हायोलिन वादकगण अधिकतर उस्ताद अलाउद्दीन खाँ परम्परा एवं पं. वी. जी. जोग की वादन शैली के आधार से अपना वादन करते हैं तथा कुछ कलाकार गत् शैली के साथ विभिन्न घराने की गायकी शैली के मिश्रण से भी वादन प्रस्तुत करते हैं। उल्लेखनीय है कि बंगाल में शास्त्रीय व्हायोलिन वादन के क्षेत्र में पं. वी. जी. जोग ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उत्तर भारत में व्हायोलिन को लोकप्रिय बनाने में इनकी विशेष भूमिका रही है। केवल भारत में ही नहीं बल्कि विश्व भर में व्हायोलिन के माध्यम से इन्होंने उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत के प्रचार-प्रसार का सुकार्य किया है। यह तो सर्वमान्य है कि पं. वी. जी. जोग सिर्फ एक उच्च स्तर के एकल-वादक ही नहीं बल्कि एक उत्तम संगतकार भी थे। देश के विख्यात गायकों में शायद ही कोई ऐसा गायक होगा, जिनके साथ जोग साहब ने संगत नहीं की हो। पं. वी. जी. जोग ने सन् 1938 से 1952 तक भातखण्डे संगीत महाविद्यालय (मरिस कॉलेज ऑव़ म्युजिक) लखनऊ में संगीत शिक्षक के पद पर कार्य किया। तत्पश्चात् कोलकाता आकाशवाणी में डिप्टी चीफ म्युजिक प्रोड्युसर, हिन्दुस्तानी म्युजिक के पद पर कार्य किया। इन्होंने कोलकाता में अली अकबर कॉलेज ऑव़ म्युजिक में भी अपनी सेवाएँ दीं तथा संगीत रिसर्च अकादमी से सम्बन्ध थे। जोग साहब ने बंगाल में अनेक शिष्यों को व्हायोलिन की शिक्षा दी। ये शिष्य बंगाल में व्हायोलिन वादन के शास्त्रीय पक्ष तथा संगीत के अन्य पक्षों पर इस वाद्य का प्रयोग करके उसके क्षेत्र को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं।

बंगाल में शास्त्रीय व्हायोलिन वादकों में जिन प्रसिद्ध कलाकारों का योगदान पाया जाता है उनमें पं. गगन बाबू (स्व.), डॉ. जी. एन. गोस्वामी (स्व.), उस्ताद मतिउर रहमान (स्व.), श्री परितोष शील (स्व.), पं. रघुनाथ दास (स्व.) आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है तथा इनके परवर्ती प्रो. रॉबीन घोष, प्रो. शिशिरकणा धर चौधुरी,

समीर शील (स्व.), श्रीमती सुलया बैनर्जी, श्री विश्वजित राय चौधुरी, श्री रंजन घोष, श्री मृन्मय राय आदि उल्लेखनीय हैं।

वर्तमान में शास्त्रीय वादन के अतिरिक्त बंगाल के सभी गीत प्रकारों में तथा नृत्य, नाटक, फ़िल्म, आदि के संगीत में भी व्हायोलिन का सफल प्रयोग होता है। गीत प्रकारों में राग-प्रधान बांग्ला गान, गज़ल, रवीन्द्र संगीत, नज़रूल संगीत एवं अतुलप्रसाद सेन, रजनीकान्त सेन, द्विजेन्द्रलाल राय आदि के गीत तथा जात्रागान, लोक-गीत आदि में इस वाद्य का अधिक प्रयोग देखने को मिलता है। इसके अलावा बंगाल का समृद्ध गीत प्रकार 'कीर्त्तन' में सहयोगी वाद्य के रूप में व्हायोलिन का प्रयोग सालों से होते आ रहा है।

कीर्त्तन में व्हायोलिन का प्रयोग

कीर्त्तन बंगाल का एक बहुत ही प्राचीन और समृद्ध तथा आध्यात्मिक गीत प्रकार है, जिसमें रागों की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। कीर्त्तन शब्द का अर्थ शब्दकोश में गुणगान करना, राधा-कृष्ण लीला विषयक गीत आदि पाए जाते हैं। मध्यकाल में राधा-कृष्ण भक्ति से सम्बन्धित जो गीत बंगाल में गाये जाने लगे उन्हें 'कीर्त्तन' के नाम से जानने लगे। भगवान की कीर्ति के सम्बन्धित गीत ही कीर्त्तन कहलाता है।

कीर्त्तन प्रधानतः दो प्रकार के हैं, जैसे - नाम कीर्त्तन या नाम-संकीर्त्तन एवं लीला कीर्त्तन या रस कीर्त्तन। 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे' इस प्रकार से बार-बार दुहराते हुए जो कीर्त्तन गाया जाता है उसे नाम कीर्त्तन कहते है। इसमें नामोच्चारण की प्रधानता रहती है। इसलिए इसे नाम-संकीर्त्तन भी कहा जाता है। नाम-संकीर्त्तन को भिन्न-भिन्न सुर एवं ताल में गाया जा सकता है। लेकिन नामोच्चारण ही इसमें मुख्य लक्ष्य है। दूसरी ओर राधा-कृष्ण के बाल्यलीला, उनके रूप-वर्णन तथा प्रशंसा सूचक पद गायन को लीला कीर्त्तन या रस कीर्त्तन कहते है। इसे पदावली कीर्त्तन भी कहा जाता है। लीला कीर्त्तन में काव्य की प्रधानता रहती है।

13वीं शताब्दी के प्रारम्भ में संस्कृत भाषा में रचित जयदेव सृष्ट रागाश्रित पदावली का उल्लेख मिलता है। उसी के आधार पर ही बंगाल में राधा-कृष्ण लीला का प्रचलन शुरू हुआ। 16वीं शताब्दी में बंगाल में कीर्त्तन का सबसे अधिक प्रचार श्री चैतन्य देव महाप्रभु के समय हुआ। उसके बाद नरोत्तम दास ठाकुर ने पदावली कीर्त्तन का प्रचार किया। इसी को लीला कीर्त्तन कहा जाने लगा और बाद में 'गड़ेरहाटि' या 'गरानहाटि' कीर्त्तन कहलाने लगे। परवर्ती में कीर्त्तन के कुछ नए रूप भी सामने आये, जैसे - मनोहर शाही, रेनेटी, मन्दारिणी एवं झाड़खण्डी आदि। इसके बाद कीर्त्तनकार अपनी इच्छा व गायन क्षमता के अनुसार भक्ति-भाव से छन्द बदलते हुए गाने लगे और यहीं से कीर्त्तन की कई अलग शैलियों का जन्म हुआ, जैसे - कथकतादल, कथारतान, आखर आदि।

प्राचीन काल से ही कीर्त्तन की रचना शास्त्रीय संगीत पर आधारित है। इसलिए कीर्त्तन को बंगाल का प्राचीन शास्त्रीय गीत कहा गया है। "कीर्त्तन में बिलावल, काफी, कल्याण, भैरवी, भैरव, पूर्वी, श्री, ललित, आसावरी, भीमपलाश्री, बसन्त, बिहाग, गौरी,

कामोद, केदार आदि रागों का प्रयोग होता है"।[107] कभी-कभी मिश्र राग का भी प्रयोग किया जाता है। इसमें विविध प्रकार के तालों का प्रयोग होता है, जैसे – "दशकोशी, दोठुकी, तेउट, लोफा, डाँश, पाहिड़, एकताल, कटाधरा, रूपक, शशीशेखर, वीरविक्रम, छुठा आदि"।[108]

कीर्त्तन की प्रस्तुति विलम्बित लय से प्रारम्भ होकर अति द्रुत लय तक की जाती है। किसी भी राग या धुन का समावेश कीर्त्तन गायन में आसानी से प्रवेश पा जाता है और कीर्त्तनकारों की संख्या का भी कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता। कीर्त्तन में खोल, झाँझ, करताल, मंजीरा, बाँसुरी, सारिन्दा, दोतारा, हारमोनियम, व्हायोलिन इत्यादि वाद्यों का प्रयोग स्थान-स्थान की सुविधानुसार किया जाता है। एक विदेशी वाद्य होते हुए भी कीर्त्तन में उपयोगी अन्य वाद्यों के साथ व्हायोलिन को भी स्थान दिया गया क्योंकि कीर्त्तन में प्रयोग होनेवाले राग-रागिनियों के लिए व्हायोलिन को एक उपयुक्त वाद्य समझा गया। कीर्त्तन में व्हायोलिन का प्रयोग कब से शुरू हुआ था यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है, परन्तु धारणा किया जाता है कि बंगाल में इस वाद्य के प्रवेश के बाद अन्य क्षेत्र के कलाकारों के समान कीर्त्तन के सहयोगी वादक कलाकारों ने भी इस के प्रति रूचि रखना शुरू किया। कीर्त्तनकारों का कहना है कि "कीर्त्तन-संगीत राग-रागिनियों पर आधारित होने के कारण इसमें व्हायोलिन का प्रयोग बहुत ही श्रुतिमधुर लगता है"। शास्त्रीय संगीत में जिस प्रकार से स्वर-विस्तार तथा बोल-विस्तार किया जाता है उसी प्रकार कीर्त्तन-संगीत में भी स्वर-विस्तार तथा भाव के साथ समता रखकर प्रस्तुति काल में जो वाक्य रचना की जाती है उसे कीर्त्तन का आखर कहा जाता है। आखर के द्वारा कीर्त्तन का भाव अधिक बढ़ाया जाता है। आखर के साथ व्हायोलिन का संगत से यह भाव और भी अधिक बढ़ जाता है तथा अत्यन्त माधुर्यपूर्ण होता है।

कीर्त्तन सम्राट श्री गौरीशंकर बैनर्जी का कहना है कि, "कीर्त्तन के भाव रसों में जो करूण रस है उसमें व्हायोलिन सबसे ज्यादा उपयोगी है। व्हायोलिन की आवाज़ की मधुरता और कीर्त्तन-संगीत का भावरस दोनों में एक गहरा सम्बन्ध है। कीर्त्तन के भावरस को व्यक्त करने के लिए जिस प्रकार ध्वनिमाधुर्य की आवश्यकता होती है, उसे व्हायोलिन के द्वारा जितना प्रकट किया जा सकता है उतना अन्य किसी वाद्य के द्वारा नहीं। इसलिए कीर्त्तनकारों ने इस वाद्य को उनके संगीत के एक मुख्य वाद्य के रूप में उस समय से ही अपना लिया था, जब से इसका प्रयोग बंगाल में आरम्भ हुआ"।[109]

'लीला कीर्त्तन' एवं 'नाम कीर्त्तन' दोनों ही प्रकारों में सहयोगी वाद्य के रूप में व्हायोलिन का उपयोग किया जाता है। लीला कीर्त्तन में नृत्य, नाट्य तथा संगीत तीनों ही मुख्य होने के कारण इसमें सभी प्रकार के रसों का प्रकाश मिलता है। इसलिए इसमें व्हायोलिन जैसे मधुर आवाज़वाले वाद्य का प्रयोग भी सुन्दर रूप से किया जाना सम्भव है। नाम कीर्त्तन में भी कलाकार इस वाद्य का सफल प्रयोग करने का प्रयास करते हैं, परन्तु इसमें गायन के साथ-साथ समूह नृत्य करना आवश्यक होने के कारण वादक कलाकारों को विभिन्न प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है, परन्तु वे अपने प्रयास में कमी नहीं छोड़ते।

चित्र : शास्त्रीय वादन-क्षेत्र में व्हायोलिन का प्रयोग

चित्र : नाम कीर्त्तन में व्हायोलिन का प्रयोग

लोक-संगीत में व्हायोलिन का प्रयोग

बंगाल के लोक-संगीत में व्हायोलिन के प्रयोग के बारे में जानकारी देने से पहले लोक-संगीत के विषय में संक्षिप्त चर्चा की आवश्यकता है।

बंगाली संस्कृति की प्रधान सम्पदा है लोक-संस्कृति। इस संस्कृति का एक मुख्य अंग है लोक-संगीत। यह संगीत लोगों के हृदय से उत्पन्न होकर विभिन्न इलाकों में अलग-अलग भाषा तथा सरल शब्द प्रयोग के माध्यम से अपना ही माधुर्य लेकर सृजित हुई है। यह सृष्टि कब से हुई इसकी निश्चित खोज मिलना कठिन है।

सामान्य रूप से 'लोक' शब्द का अर्थ है गाँव के सामान्यजन। और 'लोक-संगीत' यह अशिक्षित सरल जन-सामान्य द्वारा रचित संगीत को समझाता है। बंगाल के गाँव के अशिक्षित तथा अर्धशिक्षित कवि संगीतकारगण युगों से इस प्रकार के संगीत की रचना करते आ रहे हैं। बंगाल का लोक-संगीत पूरब, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण भागों के कारण विविध प्रकार का है एवं भिन्न-भिन्न इलाकों की अपनी-अपनी स्वतन्त्रता तथा वैशिष्ट्य के साथ अलग-अलग विशेष धारा तथा श्रेणी में विभक्त होकर समृद्ध हुआ है। इसलिए बंगाल के लोक-संगीत का भण्डार बहुत ही विशाल और समृद्धिपूर्ण देखा जाता है। लोक-संगीत का इतना वैचित्र्य किसी अन्य देशों में शायद नहीं होगा। पद्य-गान की प्रथा इतनी प्रमुख है कि कभी-कभी वृद्ध लोग कहानी सुनाते हुए भी बीच-बीच में गाते हुए चलते हैं।

बंगाल गाँव प्रधान रहा है। देहाती जीवन की संस्कृति का शहरीकरण वहाँ अधिक नहीं हो सका। बंगाल के लोक-संगीत को उसके विषय तथा इलाकों के हिसाब से कुछ भागों में बाँटा जा सकता है, जैसे - व्यवहारिक गीत, आनुष्ठानिक गीत, प्रेम-गीत, कर्म-गीत एवं आंचलिक गीत। इसके अतिरिक्त है आध्यात्मिक गीत जिसकी एक अलग स्वतन्त्रता होती है। जात्रा और कीर्त्तन बंगाल के दो समृद्ध गीत प्रकार है, जिसमें रागों की छाप स्पष्ट दिखाई देती है, लेकिन वे लोक-गीतों की श्रेणी में नहीं आते। अकेले में गाये जानेवाले गीत और समूह में गाये जानेवाले गीत अलग-अलग प्रकार के होते हैं।

संख्या की दृष्टि से तो लोक-संगीतों में स्वर बहुत कम होते है लेकिन उतार-चढ़ाव और ताल की गति के कारण उनमें बड़ी विविधता दिखाई देने लगती है। बंगाल के

लोक-गीतों में भवइया, गम्भीरा, बाउल, भटियाली तथा चटका प्रमुख है। इनके अरिरिक्त जारी, सारी, झुमुर, करम-गीत, पटुआ गीत, गाजन-गीत, पाँचाली गीत, धुआ गान, गाजीर गीत, देहतत्त्व गीत, मनसामंगल गीत, भासान-गीत, आल्काप गीत, बोलान-गीत, आगमनी गीत, बारोमासी गीत, मुर्शिदी गीत, टुसु गीत, भादु गीत आदि प्रचलित हैं, लेकिन ये विभिन्न जाति, व्यक्ति और सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं, जिनकी झलक हमें बहु प्रचलित सामाजिक लोक-गीतों में मिल जाती है। इन लोक-गीतों में तत्, घन, आनद्ध, सुषिर आदि सभी प्रकार के लोक-वाद्यों का इस्तेमाल किया जाता है। इनमें तत् गोष्ठी में एकतारा, दोतारा, सारिन्दा, खमक (आनन्द लहरी) आदि वाद्यों का अधिक प्रयोग किया जाता है, परन्तु कुछ लोक-गीतों में व्हायोलिन का प्रयोग भी देखा जाता है। यह प्रयोग कब से आरम्भ हुआ था इसका कोई ठोस प्रमाण प्राप्त नहीं होता है। लोक-संगीत कलाकारों का मानना यह है कि शास्त्रीय संगीत के कलाकारों के साथ-साथ लोक-संगीत के कलाकार भी इस विदेशी वाद्य के प्रति रूचि रखने लगे और लोक-संगीत में सहयोगी वाद्य के रूप में इसका सफल प्रयोग करने का प्रयास करने लगे। इनका यह प्रयास बहुत ज्यादा सफल हो या न हो, परन्तु वर्तमान में तत् गोष्ठी के अन्य लोक-वाद्यों के साथ इस वाद्य को भी इन कलाकारों ने शामिल कर लिया है। लोक-गीतों में व्हायोलिन का प्रयोग पूर्व बंगाल (बांग्लादेश) में अधिक देखने को मिलता है।

लोक-संगीत में व्हायोलिन के प्रयोग के विषय में प्रसिद्ध पियानो वादक पं. वी. बलसारा का कहना है कि, "बंगाल का एक लोकप्रिय गज़ वाद्य है 'सारिन्दा', जिसका अधिक प्रयोग लोक-संगीत में किया जाता है। सारिन्दा का आवाज़ लोक-संगीत के लिए उपयुक्त है, परन्तु व्हायोलिन का आवाज़ इसके लिए ठीक नहीं है। लोक-संगीत में यदि व्हायोलिन का इस्तेमाल करना है, तो वाद्य के ब्रिज के ऊपर म्युट लगाके सारिन्दा के समान आवाज़ बनाकर प्रयोग करना चाहिए"।[110]

विविध प्रकार के लोक-गीतों में कुछ गीत प्रकार, जैसे - बाउल, भटियाली, भवइया, गम्भीरा, जारी, सारी, मुर्शिदी आदि में व्हायोलिन का प्रयोग देखा जाता है। इनमें सबसे अधिक प्रयोग बाउल-गीत प्रकार में देखने को मिलता है। बाउल गायक स्वयं इस वाद्य का वादन करते हुए अपना गायन प्रस्तुत करते हैं।

'बाउल' एक सम्प्रदाय है। उसी के आधार पर बाउल लोगों द्वारा गाये गीतों का नाम भी 'बाउल' पड़ गया। "बाउल सम्प्रदाय की सृष्टि 14वीं शताब्दी के अन्त अथवा 15वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुई है"।[111] 'बाउल' हिन्दू व मुसलमान संस्कृति के समन्वय का रूप या परिणति कहा जाता है। बंगाल के लोक-संगीत प्रकारों में बाउल-संगीत का स्थान बहुत ही उचाँ माना जाता है। इसमें भाव की प्रधानता अधिक रहती है। लोक-साहित्य में भाव का ऐसा सौन्दर्य और किसी में नहीं मिलता। मन के भावों का सबसे उपयुक्त सुर बाउल कलाकारों ने प्रवर्तन किया है। उनका मुख्य उद्देश्य है शब्दों की छन्दयुक्त सरल गति। इसलिए बाकी लोक-गीतों की तुलना में बाउल-गीत में छन्द की अधिकता रहती है।

बाउल गायकों के नृत्य का भावावेग ही इस अधिकता का मूल कारण है। गायन के साथ-साथ कलाकारों की आकर्षक नृत्य मुद्राएँ सबका मन मोह लेती हैं, परन्तु बाउल-संगीत नृत्य प्रधान नहीं होता बल्कि काव्य के माध्यम से ताल और लय के सहारे शारीरिक संचालन द्वारा गीत की अभिव्यक्ति मात्र इसका लक्ष्य रहता है। बाउल-संगीत समस्त बंगाल में एक अत्यन्त लोकप्रिय लोक-संगीत-विधा है और गाँव-गाँव में उसका प्रचार है। 18वीं सदी के अन्त से सम्पूर्ण 19वीं सदी में बाउल-संगीत का विशेष प्रभाव शिक्षित समाज में भी पड़ा था। उस समय के शिक्षित रचनाकारों ने भी अनेक बाउल-गीतों की रचना की थी। पश्चिमबंग के वैष्णव प्रभाव, पूर्वबंग के इस्लामी प्रभाव तथा उत्तरबंग के बौद्ध प्रभाव इन तीनों का सम्मिलित रूप है बाउल-संगीत। बाउल-गीतों की प्रस्तुति लय, ताल और वाद्य सभी लोक-शैलियों को प्रतिबिम्बित करती है। इन गीतों में आध्यात्मिक, सामाजिक तथा प्रतीकात्मक भावों के समावेश की प्रधानता रहती है। बाउल-गीतों में आत्म सिद्धि की अवस्थाओं और क्रियाओं का वर्णन होता है, जिसमें दो अर्थ निकलते हैं। एक सामान्य और दूसरा आध्यात्मिक। बाउल कलाकारगण फकीर या सन्यासियों का बाना पहनकर जब नाचते हुए गाते हैं, तो उनकी आँखे शून्य में गड़ी रहती हैं। यह भाव देहतत्त्व और आध्यात्मिक बाउल-संगीत बंगाल की अपनी सम्पदा है। बंगाल में इस आध्यात्मिक संगीत की धारा युगों से चलती आ रही है । रस, तत्त्व, भाव, भाषा, सुर और साहित्य आदि से भरे हुए इस बाउल-संगीत का योगदान बंगाली समाज-जीवन में किसी भी संगीत-धारा से कम नहीं है।

बाउल गायक अपनी गायन के साथ विभिन्न प्रकार लोक-वाद्यों, जैसे - खमक, गोपीयन्त्र, घुँघरू, मंजिरा, बायाँ (तबला), दोतारा, एकतारा आदि वाद्य का इस्तेमाल करते हैं। बंगाल के उत्तरी और पूर्वी क्षेत्रों में प्रायः एकतारा और दोतारा वाद्य का इस्तेमाल किया जाता है। इन वाद्यों की सहायता से बाउल गायक अपने मन के भाव को व्यक्त करते हुए नृत्य के साथ झुमकर यह गीत प्रदर्शित करता है। बाउल-संगीत में सा ग म प ध प, म ग रे सा, ग म ध नि सां, नि ध प म रे ग सा आदि स्वर रहते है। तार-सप्तक के स्वरों द्वारा बाउल-संगीत का पूरा प्रभाव निखर उठता है। अनेक प्रकार के लोक-वाद्यों में एकतारा वाद्य प्रायः सभी बाउल कलाकारों का अधिक प्रिय वाद्य है। आज-कल बाउल गायकों के द्वारा व्हायोलिन का भी इस्तेमाल होते हुए देखा जाता है। बाउल गायक स्वयं इस वाद्यों का वादन करते हुए इसकी मधुर आवाज़ से मोहित होकर अपना गायन प्रस्तुत करते हैं। बाउल कलाकारों का कहना है कि "व्हायोलिन एक ऐसा वाद्य है, जो विदेशी वाद्य होते हुए भी देशी वाद्यों के साथ-साथ इस संगीत में सहयोगी वाद्य के रूप में अपना एक अलग स्थान बनाकर आगे चल रहा है। इस वाद्य की सहायता से हमें बड़ा सुरीलापन महसूस होता है। विशेष रूप से तार-सप्तक में गायन करते समय इसका एक अलग सौन्दर्य निखर उठता है, जिससे श्रोता भी बड़ा आनन्द प्राप्त करता है"। अतः देखा जाता है कि व्हायोलिन भारतीय संगीत में उपयुक्त सिद्ध होने के कारण राग-संगीत के कलाकारों के साथ-साथ बंगाल के लोक-संगीत के कलाकारों ने भी इस वाद्य के प्रति रूचि रखने लगे।

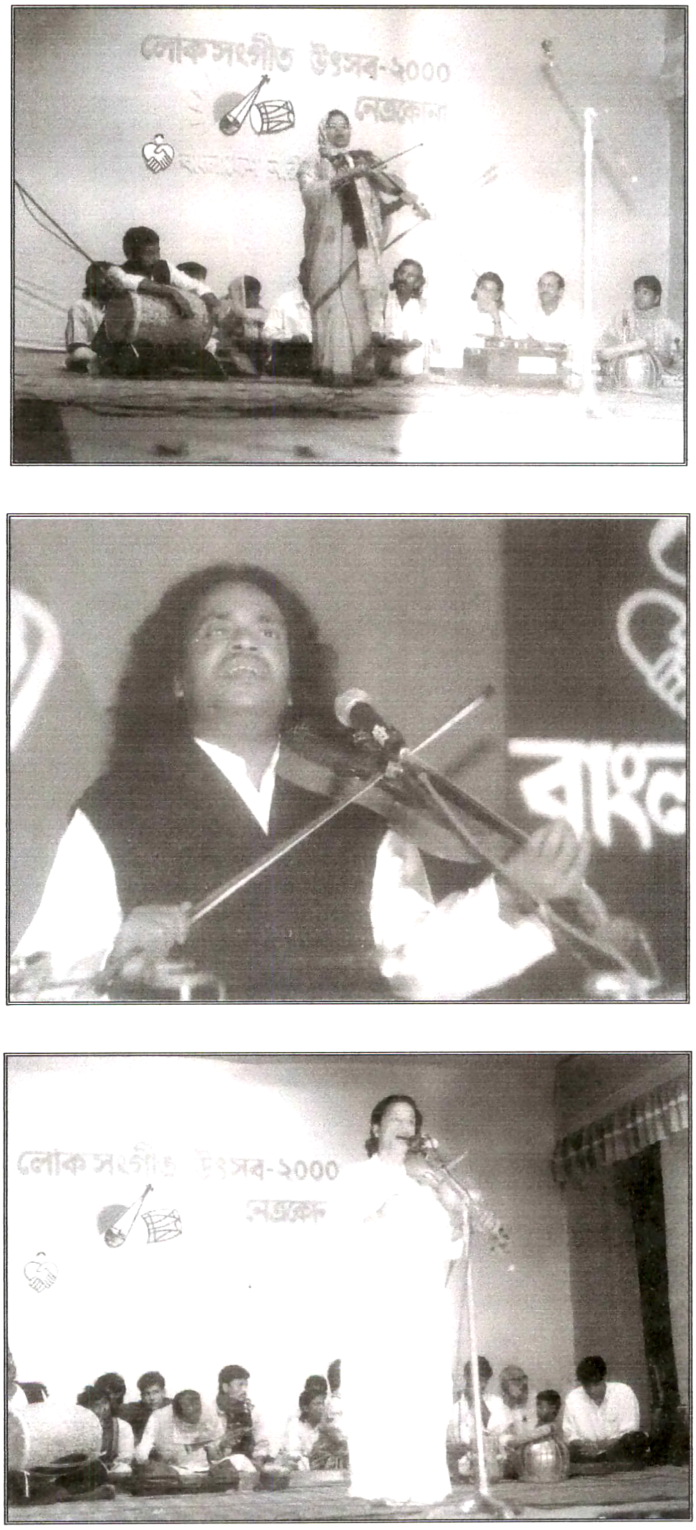

चित्र : बाउल संगीत में व्हायोलिन का प्रयोग

वर्तमान बांग्लादेश में गज़ वाद्यों का उतना खास प्रयोग दृष्टिगोचर नहीं होता है। विभिन्न प्रकार के गज़ वाद्यों, जैसे - सारंगी, इसराज, दिलरूबा, व्हायोलिन आदि में इसराज और व्हायोलिन का ही प्रयोग देखा जाता है। परन्तु दोनों वाद्य में व्हायोलिन का अधिक प्रयोग देखने को मिलता है। विभाजन के पहले बांग्लादेश में इसराज के अनेक कलाकार थे, जो शास्त्रीय एकल वादन के साथ-साथ संगत भी करते थे। किन्तु विभाजन के कारण धीरे-धीरे कलाकारों की संख्या कम होने लगी। उस समय प्रायः सभी कलाकारों ने पश्चिम बंगाल तथा भारत के अन्य स्थानों को अपना स्थायी निवास क्षेत्र बना लिया था। फलतः बांग्लादेश में इसराज वादन की परम्परा नहीं रही। नवीन कलाकारों ने व्हायोलिन के प्रति ज्यादा रूचि रखना शुरू किया। सारंगी, दिलरूबा आदि का प्रयोग पहले से ही कम है। आज इन वाद्यों का प्रयोग बांग्लादेश में नहीं देखा जाता है। इसराज का शास्त्रीय वादन भी आज नहीं देखा जाता। इस वाद्य का प्रयोग ज्यादातर 'पंचो कवियों' के गीतों में सहयोगी वाद्य के रूप में ही किया जाता है। इसके अतिरिक्त नाटक के पार्श्व-संगीत तथा आधुनिक गान में थोड़ा-बहुत प्रयोग देखने को मिलता है। बांग्लादेश में इसराज के प्रवीण और नवीन कलाकारों में उस्ताद फुलझुरी खान, दिलीप कुमार, इकराम हुसैन, नुरूल हक, अब्दुल बारी, चाँन मियाँ आदि के नाम उल्लेखनीय है।

व्हायोलिन का प्रयोग शास्त्रीय वादन-क्षेत्र में आज प्रायः नहीं के बराबर है। उस्ताद मतिउर रहमान तथा उनके परवर्ती पं. रघुनाथ दास, श्री कानाईलाल शील आदि प्रसिद्ध कलाकारों के मृत्यु के बाद इस क्षेत्र में नए कलाकारों का आगमन नहीं हो पा रहा है। कुछ कलाकारों को शास्त्रीय वादन करते हुए देखा जाता है, परन्तु वे प्रसिद्धि के उतनी शिखर तक नहीं पँहुच पाए। संगीत के अन्य क्षेत्रों में सहयोगी वाद्य के रूप में इस वाद्य का अधिक प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। नाटक में पार्श्व-संगीत तथा 'पंचो कवियों' के गीतों से लेकर कीर्त्तन, लोक-संगीत एवं सुगम-संगीत आदि सभी प्रकारों में सहयोगी वाद्य के रूप में व्हायोलिन का जितना प्रयोग देखा जाता है उतना अन्य किसी गज़ वाद्यों का नहीं। शास्त्रीय वादन-क्षेत्र में व्हायोलिन तथा अन्य गज़ वाद्यों के कमी का यही कारण कहा जा सकता है कि इनमें कठिन अभ्यास और जनरूचि का पूर्ण अभाव है।

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY
The M.S. University of Baroda
251

बांग्लादेश में लोक-संगीत के विभिन्न प्रकारों में व्हायोलिन का प्रयोग देखा जाता है। इनमें सबसे अधिक प्रयोग बाउल कलाकार करते है। बाउल गायक स्वयं अपने गायन के साथ इसका वादन करता है। वाद्य को धारण करने का उनका अपनी एक अलग ढंग होती है, जैसे बांग्लादेश के नेत्रकोणा जिले के बाउल जब खड़े होकर गायन प्रस्तुत करता है तो वह व्हायोलिन को अपने शरीर के साथ बान्ध देते है, ता कि वादन में भी कोई असुविधा न हो तथा दोनों हाथ भी स्वाधीन रह सके। किन्तु स्थान विशेष से इस धारण विधि में परिवर्तन भी देखा जाता है।

बांग्लादेश में कीर्त्तन संगीत के दो प्रकारों में से नाम कीर्त्तन का अधिक प्रचलन देखा जाता है, जिसमें समूह-गायन तथा नृत्य आवश्यक है। इसमें कलाकारों को पाश्चात्य पद्धति से व्हायोलिन को धारण कर ही वादन करना पड़ता है। वे व्हायोलिन के तारों को अधिकतर पाश्चात्य शैली से मिलाकर बजाते है, परन्तु कुछ कलाकार अपनी सुविधा के अनुसार तारों को भारतीय पद्धति से भी मिलाते है। गायन के साथ समता रखने के लिए कभी-कभी पंचम के तार को 'सा' मानकर भी बजाया जाता है। गायन में विभोर होकर राम-नाम तथा कृष्ण-नाम के साथ गायक जब तार-सप्तक में गाता है, उस समय लय भी अधिक बढ़ जाती है। उस द्रुत लय में गायन के साथ झाले का जो प्रयोग वादक करते है, वह बहुत ही आकर्षक होता है तथा भक्त श्रोता भी अधिक आनन्द प्राप्त करता है।

इस प्रकार हम देखते है कि पश्चिम बंगाल के समान बांग्लादेश में भी कीर्त्तन में व्हायोलिन का प्रयोग किया जाता है, परन्तु पश्चिम बंगाल में लीला कीर्त्तन का प्रचलन अधिक है जहाँ बांग्लादेश में नाम कीर्त्तन का। इसलिए पश्चिम बंगाल में लीला कीर्त्तन में तथा बांग्लादेश में नाम कीर्त्तन में व्हायोलिन का प्रयोग अधिक देखा जाता है।

बांग्लादेश में विभिन्न क्षेत्रों के प्रतिष्ठित व्हायोलिन वादको में सुनील दास, राजा हुसैन खान, शेख सादी खान, सुबल दत्त, अलाउद्दीन अली, अलाउद्दीन मियाँ, मोहम्मद नुरूद्दीन, मोहम्मद हुसैन, मनसुर अली, यूनुस अली, गियास उद्दीन, अलमस अली आदि उल्लेखनीय है।

सन्दर्भ-सूत्र

1.	मासिक संगीत पत्रिका - मार्च 2006 सम्पादक : डॉ. मुकेश गर्ग	पृष्ठ 29
2.	भारतीय संगीत का इतिहास - श्री उमेश जोशी	पृष्ठ 144
3.	Historical study of Indian Music - Swami Prajnanananda	पृष्ठ 116
4.	भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य - डॉ. प्रकाश महाडिक	पृष्ठ 81-82
5.	भारतीय संगीत वाद्य - डॉ. लालमणि मिश्र	पृष्ठ 43
6.	भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य - डॉ. प्रकाश महाडिक	पृष्ठ 82
7.	भारतीय शास्त्रों में वाद्यों का चिन्तन - डॉ. अंजना भार्गव	पृष्ठ 205
8.	भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य - डॉ. प्रकाश महाडिक	पृष्ठ 83
9.	यन्त्र कोश - श्री एस. एम. ठाकुर	पृष्ठ 17
10.	भारतीय संगीत शास्त्रों में वाद्यों का चिन्तन - डॉ. अंजना भार्गव	पृष्ठ 203
11.	भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य - डॉ. प्रकाश महाडिक	पृष्ठ 86
12.	संगीत चिन्तामणि (द्वितीय खण्ड) - आचार्य बृहस्पति (पाकिस्तानी लेखक जनाब रशीद मालिक रचित पुस्तक "हज़रत अमीर खुसरो का इल्मे मूसिक़ी" और "दूसरे मकालात" पृष्ठ 146-147 और 157 के आधार पर)	पृष्ठ 84
13.	भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य - डॉ. प्रकाश महाडिक	पृष्ठ 87
14.	वाद्य यन्त्र - बी. चैतन्य देव	पृष्ठ 109
15.	खुसरो, तानसेन तथा अन्य कलाकार - आचार्य बृहस्पति एवं श्रीमती सुलोचना यजुर्वेदी	पृष्ठ 99
16.	भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य - डॉ. प्रकाश महाडिक (श्री रमावल्लभ मिश्र के पुस्तक "सितार के आविष्कार का इतिहास और विकास के चरण" पृष्ठ 19 के आधार पर)	पृष्ठ 88
17.	- वही -	पृष्ठ 88
18.	- वही -	पृष्ठ 88-89
19.	खुसरो, तानसेन तथा अन्य कलाकार - आचार्य बृहस्पति एवं श्रीमती सुलोचना यजुर्वेदी	पृष्ठ 23-24
20.	मुसलमान और भारतीय संगीत - आचार्य बृहस्पति	पृष्ठ 61-62

21.	खुसरो, तानसेन तथा अन्य कलाकार - आचार्य बृहस्पति एवं श्रीमती सुलोचना यजुर्वेदी	पृष्ठ 212
22.	भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य - डॉ. प्रकाश महाडिक (पं. अहोबल रचित ग्रन्थ "संगीत पारिजात" अध्याय 2 के श्लोक 47-51 के आधार पर)	पृष्ठ 90
23.	- वही - (महाराज सवाई प्रतापसिंह देव रचित पुस्तक "राधागोविन्द संगीतसार" पृष्ठ 6 के आधार पर)	पृष्ठ 90
24.	मुसलमान और भारतीय संगीत - आचार्य बृहस्पति	पृष्ठ 14
25.	भारतीय संगीत वाद्य - डॉ. लालमणि मिश्र	पृष्ठ 55
26.	संगीत बोध - डॉ. शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपे	पृष्ठ 141
27.	भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य - डॉ. प्रकाश महाडिक	पृष्ठ 110-111
28.	भारतीय संगीतेर कथा - प्रभात कुमार गोस्वामी	पृष्ठ 189
29.	गीत-वाद्यम् - लक्ष्मी नारायण घोष	पृष्ठ 221
30.	- वही -	पृष्ठ 251
31.	तन्त्री वादक - डॉ. प्रकाश महाडिक	पृष्ठ 39
32.	भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य - डॉ. प्रकाश महाडिक	पृष्ठ 116
33.	वाद्य यन्त्र - डॉ. बी. चैतन्य देव	पृष्ठ 105
34.	- वही -	पृष्ठ 105
35.	भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य - डॉ. प्रकाश महाडिक	पृष्ठ 115
36.	भारतीय संगीत वाद्य - डॉ. लालमणि मिश्र	पृष्ठ 117
37.	भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य - डॉ. प्रकाश महाडिक	पृष्ठ 114
38.	- वही -	पृष्ठ 61
39.	यन्त्रकोश - एस. एम. ठाकुर	पृष्ठ 25
40.	Historical Development of Indian Music - Swami Prajnanananda	पृष्ठ 384
41.	गीत-वाद्यम् - लक्ष्मीनारायण घोष	पृष्ठ 235
42.	भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य - डॉ. प्रकाश महाडिक	पृष्ठ 114
43.	मानसिंह और मानकुतूहल - श्री हरिहर निवास द्विवेदी	पृष्ठ 135
44.	भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य - डॉ. प्रकाश महाडिक	पृष्ठ 116
45.	खुसरो तानसेन तथा अन्य कलाकार - आचार्य बृहस्पति और सुलोचना यजुर्वेदी	पृष्ठ 215

46. मानसिंह और मानकुतूहल - श्री हरिहर निवास द्विवेदी पृष्ठ 135

47. भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य - डॉ. प्रकाश महाडिक पृष्ठ 114

48. खुसरो तानसेन तथा अन्य कलाकार पृष्ठ 168
- आचार्य बृहस्पति और श्रीमती सुलोचना यजुर्वेदी
("आजकल" (उर्दु), अगस्त 1956, पृष्ठ 12 के आधार पर)

49. भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य - डॉ. प्रकाश महाडिक पृष्ठ 115

50. - वही - (मोहम्मद करम इमाम रचित ग्रन्थ पृष्ठ 115
"मआदनुल मौसिकी', पृष्ठ 58 के आधार पर)

51. तन्त्री वादक - डॉ. प्रकाश महाडिक पृष्ठ 63

52. - वही - पृष्ठ 63

53. - वही - पृष्ठ 63

54. गीत-वाद्यम् - लक्ष्मीनारायण घोष पृष्ठ 235

55. भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य - डॉ. प्रकाश महाडिक पृष्ठ 67

56. - वही - पृष्ठ 68

57. दि म्युजिक ऑव़ इण्डिया - एच. ए. पोपले पृष्ठ 116

58. भारतीय संगीतेर कथा - प्रभात कुमार गोस्वामी पृष्ठ 190-191

59. - वही - पृष्ठ 192

60. वितत् वाद्य शिक्षा - श्रीपद बन्दोपाध्याय (द्वितीय अध्याय) पृष्ठ 12

61. भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य - डॉ. प्रकाश महाडिक पृष्ठ 135

62. गीत-वाद्यम् - लक्ष्मी नारायण घोष पृष्ठ 169

63. - वही - पृष्ठ 169

64. - वही - पृष्ठ 171

65. प्राचीन भारतेर संगीत चिन्ता - डॉ. अमियनाथ सान्याल पृष्ठ 9

66. New Oxford History of Music (Vol.-1) पृष्ठ 225
- Edited by Egon Wells

67. साइक्लोपीडिया ऑव़ म्युजिक एण्ड म्युजिशियन पृष्ठ 65
- आक्सर थोम्बसन

68. गीत-वाद्यम् - लक्ष्मीनारायण घोष पृष्ठ 171

69. The story of Indian Music - O. Goswami पृष्ठ 305

70. भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य - डॉ. प्रकाश महाडिक पृष्ठ 166

71. भारतीय संगीत वाद्य - डॉ. लालमणि मिश्र पृष्ठ 115

72. यन्त्र कोश - एस. एम. ठाकुर पृष्ठ 75

73.	भारतीय संगीत कोश - विमलाकान्त राय चौधुरी	पृष्ठ 120
74.	भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य - डॉ. प्रकाश महाडिक	पृष्ठ 165
75.	History of Musical Instruments - H. A. Popley	पृष्ठ 112
76.	भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य - डॉ. प्रकाश महाडिक	पृष्ठ 170
77.	- वही -	पृष्ठ 157
78.	सारंगी - डॉ. सुरेशव्रत राय	पृष्ठ 72
79.	तन्त्रीवाद्यों की वादन कला - डॉ. प्रकाश महाडिक	पृष्ठ 20
80.	भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य - डॉ. प्रकाश महाडिक	पृष्ठ 156
81.	मासिक संगीत - फरवरी 1959	पृष्ठ 8
82.	तन्त्री वादक - डॉ. प्रकाश महाडिक	पृष्ठ 96
83.	- वही -	पृष्ठ 96
84.	- वही -	पृष्ठ 96
85.	सारंगी - डॉ. सुरेशव्रत राय	पृष्ठ 96
86.	अन्तर्नाद : सुर और साज - पं. विजयशंकर मिश्र	पृष्ठ 128
87.	मासिक संगीत पत्रिका (मार्च, 1975) - सम्पादक : लक्ष्मीनारायण गर्ग	पृष्ठ 21
88.	सारंगी - डॉ. सुरेशव्रत राय	पृष्ठ 46
89.	- वही -	पृष्ठ 46
90.	भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य - डॉ. प्रकाश महाडिक	पृष्ठ 139
91.	- वही -	पृष्ठ 140-141
92.	गीत-वाद्यम् - लक्ष्मीनारायण घोष	पृष्ठ 218
93.	- वही -	पृष्ठ 218
94.	भारतीय संगीतेर इतिहास - स्वामी प्रज्ञानानन्द	पृष्ठ 305-306
95.	- वही -	पृष्ठ 306
96.	भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य - डॉ. प्रकाश महाडिक	पृष्ठ 141
97.	बेला बोधक - डॉ. एन. राजम्	पृष्ठ 9-11
98.	भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य - डॉ. प्रकाश महाडिक	पृष्ठ 137
99.	वायलिन वादन - श्री प्रकाश नारायण	पृष्ठ 32
100.	भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य - डॉ. प्रकाश महाडिक	पृष्ठ 137
101.	- वही -	पृष्ठ 138
102.	- वही -	पृष्ठ 138

103. मासिक संगीत पत्रिका (मार्च, 1975) पृष्ठ 22
- सम्पादक : लक्ष्मीनारायण गर्ग

104. प्रसंग बांग्ला गान - श्री राज्येश्वर मित्र पृष्ठ 79

105. - वही - पृष्ठ 79

106. संगीत चिन्ता - रवीन्द्रनाथ ठाकुर पृष्ठ 173

107. श्री गौरीशंकर बैनर्जी से साक्षात्कार के आधार पर,
दिनांक : 12-01-2005, कोलकाता।

108. भारतीय संगीतेर कथा - प्रभात कुमार गोस्वामी पृष्ठ 161

109. श्री गौरीशंकर बैनर्जी से साक्षात्कार के आधार पर,
दिनांक : 12-01-2005, कोलकाता।

110. पं. वी. बलसारा से साक्षात्कार के आधार पर,
दिनांक : 01-04-2003, कोलकाता।

111. भारतीय संगीतेर कथा - प्रभात कुमार गोस्वामी पृष्ठ 317